आर्योद्देश्य रत्न माला

अथ गोकरुणा निधि

अथः पञ्चमहायज्ञ विधि

व्यवहार भानुः

आर्याभिविनयः

ओ३म्

आर्योद्देश्य रत्न माला

अथः गोकरूणा निधि

अथः पञ्चमहायज्ञ विधि

व्यवहार भानुः

आर्याभिविनयः

महर्षि दयानन्द सरस्वती

पुस्तक प्राप्ति स्थान :—

वीरेन्द्र कुमार आर्य

एफ 8/23 कृष्णा नगर

दिल्ली—51

पुस्तक प्राप्ति स्थान :—वीरेन्द्र कुमार आर्य
एफ 8/23 कृष्णा नगर
दिल्ली—51

मुद्रक : स्पीडो ग्राफिक्स,
20 बी, पटपड़गंज दिल्ली—91

स्व० श्रीमति सरोज रानी आर्य स्व० श्री लक्ष्मण चन्द्र आर्य

आपके सुपुत्र श्री वीरेन्द्र कुमार आर्य एवं पुत्र वधु श्रीमति दीपा आर्य द्वारा महर्षि श्रीमद् दयानन्द सरस्वती के लघु ग्रन्थों "आर्योद्देश्य रत्न माला, गोकरूणा निधि, पञ्च महायज्ञ विधि, व्यवहार भानु तथा आर्याभिविनयः" को वैदिक धर्म प्रचारार्थ अल्प मूल्य पर आर्य जनता की सेवा में सादर सप्रेम भेंट कर रहे हैं।

30 रुपये की लागत से प्रकाशित यह ग्रन्थ, स्व० श्री लक्ष्मण चन्द्र जी एवं श्रीमति सरोज रानी की पुण्य-स्मृति में मात्र 15 रु० मूल्य पर सादर समर्पित है।

विचार-विचक्षण पाठकवृन्द ! परम ऋषिभक्त श्री वीरेन्द्रकुमार आर्य ने सर्वतोमुखी क्रान्ति के अग्रदूत महर्षि दयानन्द के अमूल्य ग्रन्थों को अपने पूज्य माता-पिता की स्मृति में जनसामान्य तक अल्पमूल्य में पहुँचाने का जो संकल्प किया है वह सब के लिए अनुकरणीय है ।

सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका एव संस्कारविधि के पश्चात् अब उन्होंने महर्षि के लघुग्रन्थों-आर्योद्देश्यरत्नमाला, गोकरुणानिधि, पञ्चमहायज्ञ विधि, व्यवहारभानु तथा आर्याभिविनय-को संकलित कर स्वाध्याय प्रेमियों तक पहुंचाने का जो निश्चय किया है, तदर्थ वे धन्यवाद के पात्र है ।

मैं उनके दीर्घायुष्य एव नीरोगता की कामना करते हुए अपनी शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ ।

- डॉ० शिवकुमार शास्त्री
धर्माधिकारी, सार्वदेशिक धर्मार्यसभा
रामलीला मैदान, नई दिल्ली-११०००२

दिनांक
११.५.९८

कर्मयोगी

स्व॰ श्री लक्ष्मण चन्द्र आर्य

अपने नाम को चरितार्थ करने वाले, मानव जीवन की सार्थकता समझने वाले, सहृदयता, अनुशासन प्रियता और व्यवहार मे शुचिता रखने वाले, कर्मयोगी एवं सौजन्यता की प्रतिमूर्ति थे " श्री लक्ष्मण चन्द्र आर्य"

'लक्ष्य' प्राप्ति के लिए 'मन' मे कष्टो को सहन करने की अपार शक्ति रखते थे, सौम्य स्वभाव और मधुर मिलन मे 'चन्द्र' शब्द को तथा उत्तम गुण–कर्म–स्वभाव वाले सच्चे 'आर्य' थे। आध्यात्मिक व्यक्तित्व के धनी थे। समाज सेवा, राष्ट्रहित उनके खून में समाया हुआ था।

ऋषि भक्त, आर्य समाज के सिद्धान्तो के प्रति समर्पित, प॰ लेखराम की भावना को लेख और प्रकाशन द्वारा अच्छी और कम मूल्य की पुस्तकों के माध्यम से सद्‌विचारों के द्वारा जन–जन को मानवता के पाठ पढ़ाने की धुन लगी रहती थी।

गुरूकुल और असहायों की सहायता करने वाले, बडे–बडे, यज्ञ करने वाले, विद्वानों का सम्मान करने वाले, अच्छी सलाह मानने वाले तथा बच्चों को राष्ट्र की सम्पदा समझने वाले और उनको संस्कारित बनाने के लिए चिन्तन शील रहना उनका स्वभाव था। वाणी से कम कार्य से अधिक बोलते थे। वे सच्चे कर्मयोगी पुरूषार्थी थे। उनके जीवन से कर्म और आचरण में एकात्मता, उदारचेता और धर्म के प्रति निष्ठा झलकती थी।

उनके द्वारा किए गये कार्य सदैव प्रेरणा के स्रोत बने रहेगे। प्रभु से इस आर्य परिवार के मगलमय भविष्य की प्रार्थना करता हूँ कि यह बगीचा सदैव हरा–भरा रहे। इसकी सुगन्ध और शोभा दूर–दूर तक फैले, सुख और आनन्द की अभिवृद्धि हो। परिवार मे उनके कार्यों को फैलाने की शक्ति–सामर्थ्य पैदा हो साथ ही विशाल हृदय, प्रकाशन मे उदारता, सभी के शुभ चिन्तक का जो अभाव हुआ है उस अभाव की पूर्ति उनके आदर्श कर्तव्य परायण, धर्म निष्ट सुपुत्र श्री वीरेन्द्र कुमार जी के माध्यम से होगी। ऐसा पूर्ण विश्वास है।

आचार्य प्रकशचन्द्र शास्त्री
प्रधान
आर्य पुरोहित सभा, दिल्ली प्रदेश

अनुक्रमणिका

❊ ओ३म् ❊

आर्य्योद्देश्यरत्नमाला

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मिता

ईश्वरादितत्त्वलक्षणप्रकाशिका

आर्य्यभाषाप्रकाशोज्जवला

श्रीमद्दयानन्दजन्माब्द १७२

॥ ओ३म् ॥

आर्य्योद्देश्यरत्नमाला

१—ईश्वर—जिसके गुण, कर्म, स्वभाव और स्वरूप सत्य ही हैं, जो केवल चेतनमात्र वस्तु है तथा जो एक अद्वितीय, सर्वशक्तिमान्, निराकार, सर्वत्र व्यापक, अनादि और अनन्त आदि सत्यगुणवाला है, और जिसका स्वभाव अविनाशी, ज्ञानी, आनन्दी, शुद्ध, न्यायकारी, दयालु और अजन्मादि है, जिसका कर्म जगत् की उत्पत्ति, पालन और विनाश करना तथा सर्व जीवों को पाप-पुण्य के फल ठीक-ठीक पहुँचाना है, उसको 'ईश्वर' कहते हैं।

२—धर्म्म— जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन, पक्षपातरहित न्याय सर्वहित करना है, जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित और वेदोक्त होने से सब मनुष्यों के लिये एक और मानने योग्य है, उसको 'धर्म्म' कहते हैं।

३—अधर्म्म— जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा को छोड़ना और पक्षपात सहित अन्यायी होके विना परीक्षा करके अपना ही हित करना है, जो अविद्या-हठ अभिमान, क्रूरतादि दोषयुक्त होने के कारण वेदविद्या से विरुद्ध है और सब मनुष्यों को छोड़ने के योग्य है, यह 'अधर्म्म' कहाता है।

४—पुण्य— जिसका स्वरूप विद्यादि शुभ गुणों का दान और सत्यभाषणादि सत्याचार का करना है, उसको 'पुण्य' कहते हैं।

५—पाप— जो पुण्य से उल्टा और मिथ्याभाषणादि करना है, उसको

'पाप' कहते हैं।

६—**सत्यभाषण**— जैसा कुछ अपने आत्मा में हो और असम्भवादि दोषों से रहित करके सदा वैसा ही सत्य बोले, उसको 'सत्यभाषण' कहते हैं।

७—**मिथ्याभाषण**— जो कि सत्यभाषण अर्थात् सत्य बोलने से विरुद्ध है, उसको 'असत्यभाषण' कहते हैं।

८—**विश्वास**— जिसका मूल अर्थ और फल निश्चय करके सत्य ही हो, उसका नाम 'विश्वास' है।

९—**अविश्वास**— जो विश्वास से उल्टा है, जिसका तत्त्व अर्थ न हो, वह 'अविश्वास' कहाता है।

१०—**परलोक**— जिसमें सत्यविद्या से परमेश्वर की प्राप्ति पूर्वक इस जन्म वा पुनर्जन्म और मोक्ष मे परमसुख प्राप्त होना है, उसको 'परलोक' कहते हैं।

११—**अपरलोक**— जो परलोक से उल्टा है, जिसमें दुःख विशेष भोगना होता है, वह 'अपरलोक' कहाता है।

१२—**जन्म**— जिसमें किसी शरीर के साथ संयुक्त हो के जीव कर्म करने में समर्थ होता है, उसको 'जन्म' कहते हैं।

१३—**मरण**— जिस शरीर को प्राप्त होकर जीव क्रिया करता है, उस शरीर और जीव का किसी काल में जो वियोग हो जाना है, उसको 'मरण' कहते हैं।

१४—**स्वर्ग**— जो विशेष सुख और सुख की सामग्री को जीव का प्राप्त

होना है, वह 'स्वर्ग' कहाता है।

१५—**नरक**— जो विशेष दुःख और दुःख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है, उसको 'नरक' कहते हैं।

१६—**विद्या**— जिससे ईश्वर से लेके पृथिवीपर्यन्त पदार्थों का सत्य विज्ञान होकर उनसे यथायोग्य उपकार लेना होता है, इसका नाम 'विद्या' है।

१७—**अविद्या**— जो विद्या से विपरीत, भ्रम, अन्धकार और अज्ञानरूप है इसलिए इसको 'अविद्या' कहते हैं।

१८—**सत्पुरुष**— जो सत्यप्रिय, धर्मात्मा, विद्वान्, सबके हितकारी और महाशय होते हैं, वे 'सत्पुरुष' कहाते हैं।

१९—**सत्सङ्गकुसङ्ग**— जिस करके झूठ से छूट के सत्य की ही प्राप्ति होती है उसको 'सत्सङ्ग' और जिस करके पापो मे जीव फँसे उसको 'कुसङ्ग' कहते है।

२०—**तीर्थ**— जितने विद्याभ्यास, सुविचार, ईश्वरोपासना, धर्मानुष्ठान, सत्य का संग, ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियतादि उत्तम कर्म हैं, वे सब 'तीर्थ' कहाते हैं क्योंकि जिन करके जीव दुःखसागर से तर जा सकता है।

२१—**स्तुति**— जो ईश्वर वा किसी दूसरे पदार्थ के गुणज्ञान, कथन, श्रवण और सत्यभाषण करना है, वह 'स्तुति' कहाती है।

२२—**स्तुति का फल**— जो गुणज्ञान आदि के करने से गुणवाले पदार्थ में प्रीति होती है, यह 'स्तुति का फल' कहाता है।

२३—**निन्दा**— जो मिथ्याज्ञान, मिथ्याभाषण, झूठ में आग्रहादि क्रिया का नाम है कि जिससे गुण छोड़कर उनके स्थान में अपगुण लगाना होता है, वह 'निन्दा' कहाती है।

२४—**प्रार्थना**—अपने पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिये परमेश्वर वा किसी सामर्थ्यवाले मनुष्य के सहाय लेने को 'प्रार्थना' कहते हैं।

२५—**प्रार्थना का फल**— अभिमान का नाश, आत्मा में आर्द्रता, गुण ग्रहण में पुरुषार्थ और अत्यन्त प्रीति का होना 'प्रार्थना का फल' है।

२६—**उपासना**—जिस करके ईश्वर ही के आनन्दस्वरूप में अपने आत्मा को मग्न करना होता है, उसको 'उपासना' कहते हैं।

२७—**निर्गुणोपासना**—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग, वियोग, हल्का, भारी, अविद्या, जन्म, मरण और दुःख आदि गुणों से रहित परमात्मा को जानकर जो उसकी उपासना करनी है, उसको 'निर्गुणोपासना' कहते हैं।

२८—**सगुणोपासना**— जिसको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, नित्य, आनन्द, सर्वव्यापक, एक, सनातन, सर्वकर्त्ता, सर्वाधार, सर्वस्वामी, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, मंगलमय, सर्वानन्दप्रद, सर्वपिता, सब जगत् का रचने वाला, न्यायकारी, दयालु आदि सत्य गुणों से युक्त जान केजो ईश्वर की उपासना करना है, सो 'सगुणोपासना' कहाती है।

२९—**मुक्ति**— अर्थात् जिससे सब बुरे कामों और जन्म-मरणादि दुःखसागर से छूटकर, सुखरूप परमेश्वर को प्राप्त होके सुख ही में रहना है, वह 'मुक्ति' कहाती है।

३०—**मुक्ति के साधन**— अर्थात् जो पूर्वोक्त ईश्वर की कृपा, स्तुति, प्रार्थना और उपासना का करना तथा धर्म का आचरण और पुण्य का करना, सत्संग, विश्वास, तीर्थसेवन, सत्पुरुषों का संग, परोपकार करना आदि सब अच्छे कामों का करना और सब दुष्ट कर्मों से अलग रहना है, ये सब 'मुक्ति के साधन' कहाते हैं।

३१—**कर्त्ता**— जो स्वतन्त्रता से कर्मों का करने वाला है, अर्थात् जिसके स्वाधीन सब साधन होते हैं, वह 'कर्त्ता' कहाता है।

३२—**कारण**— जिनको ग्रहण करके करने वाला ही किसी कार्य व चीज को बना सकता है अर्थात् जिसके विना कोई चीज बन ही नहीं सकती, वह 'कारण' कहाता है, सो तीन प्रकार का है।

३३—**उपादान कारण**— जिसको ग्रहण करके ही उत्पन्न होवे वा कुछ बनाया जाय, जैसा कि मट्टी से घड़ा बनता है, उसको 'उपादान' कहते हैं।

३४—**निमित्त कारण**— जो बनाने वाला है, जैसा कुम्हार घड़े को बनाता है, इस प्रकार के पदार्थों को 'निमित्त कारण' कहते हैं।

३५—**साधारण कारण**— जैसे कि चाक, दंड आदि और दिशा, आकाश तथा प्रकाश हैं, इनको 'साधारण कारण' कहते हैं।

३६—**कार्य्य**— जो किसी पदार्थ के संयोगविशेष से स्थूल होके काम में आता है, अर्थात् जो करने के योग्य है, वह उस कारण का 'कार्य्य' कहाता है।

३७—**सृष्टि**—जो कर्त्ता की रचना से कारणद्रव्य किसी संयोगविशेष से

अनेक प्रकार कार्यरूप होकर वर्त्तमान में व्यवहार करने के योग्य होता है, वह 'सृष्टि' कहाती है।

३८—जाति— जो जन्म से लेकर मरणपर्यन्त बनी रहे, जो अनेक व्यक्तियो में एकरूप से प्राप्त हो, जो ईश्वरकृत अर्थात् मनुष्य, गाय, अश्व और वृक्षादि समूह हैं, वे 'जाति' शब्दार्थ से लिये जाते हैं।

३९—मनुष्य— अर्थात् जो विचार के विना किसी काम को न करे, उसका नाम 'मनुष्य' है।

४०—आर्य्य— जो श्रेष्ठ स्वभाव, धर्मात्मा, परोपकारी, सत्यविद्यादि गुणयुक्त और आर्य्यावर्त्त देश में सब दिन से रहने वाले हैं, उनको 'आर्य्य' कहते हैं।

४१—आर्य्यावर्त्त देश— हिमालय, विन्ध्याचल, सिन्धु नदी और ब्रह्मपुत्रा नदी, इन चारों के बीच और जहां तक उनका विस्तार है, उनके मध्य में जो देश है, उसका नाम 'आर्य्यावर्त्त' है।

४२—दस्यु— अनार्य अर्थात् जो अनाड़ी, आर्य्यों के स्वभाव और निवास से पृथक् डाकू, चोर, हिंसक कि जो दुष्ट मनुष्य है, वह 'दस्यु' कहाता है।

४३—वर्ण— जो गुण और कर्मों के योग से ग्रहण किया जाता है, वह 'वर्ण' शब्दार्थ से लिया जाता है।

४४—वर्ण के भेद—जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि हैं, वे 'वर्ण' कहाते हैं।

४५—**आश्रम**— जिनमें अत्यन्त परिश्रम करके उत्तम गुणों का ग्रहण और श्रेष्ठ काम किये जायें, उनको 'आश्रम' कहते हैं।

४६—**आश्रम के भेद**— जो सद्विद्यादि शुभ गुणों का ग्रहण तथा जितेन्द्रियता से आत्मा और शरीर के बल को बढ़ाने के लिए ब्रह्मचारी, जो सन्तानोत्पत्ति और विद्यादि सब व्यवहारों को सिद्ध करने के लिए गृहाश्रम, जो विचार के लिए वानप्रस्थ, और जो सर्वोपकार करने के लिए संन्यासाश्रम होता है, ये 'चार आश्रम' कहाते हैं।

४७—**यज्ञ**—जो अग्निहोत्र से ले के अश्वमेध पर्यन्त जो शिल्प व्यवहार और पदार्थ-विज्ञान है जो कि जगत् के उपकार के लिए किया जाता है, उसको 'यज्ञ' कहते हैं।

४८—**कर्म**— जो मन इन्द्रिय और शरीर में जीव चेष्टा-विशेष करता है सो 'कर्म' कहाता है। वह शुभ, अशुभ और मिश्र भेद से तीन प्रकार का है।

४९—**क्रियमाण**— जो वर्तमान में किया जाता है, सो 'क्रियमाण कर्म' कहाता है।

५०—**सञ्चित**— जो क्रियमाण का संस्कार ज्ञान में जमा होता है, उसको 'सञ्चित' कहते हैं।

५१—**प्रारब्ध**— जो पूर्व किये हुये कर्मों के सुख-दुःख-रूप फल का भोग किया जाता है, उसको 'प्रारब्ध' कहते हैं।

५२—**अनादि पदार्थ**— जो ईश्वर, जीव और सब जगत् का कारण है, ये तीन 'स्वरूप से अनादि' हैं।

५३—**प्रवाह से अनादि पदार्थ**—जो कार्य जगत्, जीव के कर्म और जो इनका संयोग-वियोग है, ये तीन 'परम्परा से अनादि' हैं।

५४—**अनादि का स्वरूप**— जो न कभी उत्पन्न हुआ हो, जिसका कोई कारण न होवे, अर्थात् जो सदा से स्वयंसिद्ध हो, वह 'अनादि' कहाता है।

५५—**पुरुषार्थ**—अर्थात् सर्वथा आलस्य छोड़ के उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिए मन, शरीर, वाणी और धन से जो अत्यन्त उद्योग करना है, उसको 'पुरुषार्थ' कहते हैं।

५६—**पुरुषार्थ के भेद**— जो अप्राप्त वस्तु की इच्छा करनी, प्राप्त का अच्छी प्रकार रक्षण करना, रक्षित को बढ़ाना और बढ़े हुए पदार्थों का सत्यविद्या की उन्नति में तथा सबके हित करने में खर्च करना है, इन चार प्रकार के कर्मों को 'पुरुषार्थ' कहते हैं।

५७—**परोपकार**—अर्थात् अपने सब सामर्थ्य से दूसरे प्राणियो के सुख होने के लिये जो तन, मन, धन से प्रयत्न करना है, वह 'परोपकार' कहाता है।

५८—**शिष्टाचार**— जिसमें शुभ गुणों का ग्रहण और अशुभ गुणों का त्याग किया जाता है, वह 'शिष्टाचार' कहाता है।

५९—**सदाचार**— जो सृष्टि से लेके आज पर्यन्त सत्पुरुषों का वेदोक्त आचार चला आया है कि जिसमें सत्य का ही आचरण और असत्य का परित्याग किया है, उसको 'सदाचार' कहते हैं।

६०—**विद्यापुस्तक**— जो ईश्वरोक्त, सनातन, सत्यविद्यामय चार वेद हैं,

उनको 'विद्यापुस्तक' कहते है।

६१—**आचार्य**— जो श्रेष्ठ आचार को ग्रहण कराके, सब विद्याओं को पढ़ा देवे, उसको 'आचार्य' कहते हैं।

६२—**गुरु**— जो वीर्यदान से लेके भोजनादि कराके पालन करता है, इससे पिता को 'गुरु' कहते हैं और जो अपने सत्योपदेश से हृदय के अज्ञानरूपी अन्धकार मिटा देवे, उसको भी 'गुरु' अर्थात् आचार्य कहते हैं।

६३—**अतिथि**— जिसकी आने और जाने में कोई भी निश्चित तिथि न हो तथा जो विद्वान् होकर सर्वत्र भ्रमण करके प्रश्नोत्तरों के उपदेश करके सब जीवों का उपकार करता है, उसको 'अतिथि' कहते हैं।

६४—**पञ्चायतनपूजा**— माता, पिता, आचार्य, अतिथि और परमेश्वर को जो यथायोग्य सत्कार करके प्रसन्न करना है, उसको 'पञ्चायतन पूजा' कहते हैं।

६५—**पूजा**— जो ज्ञानादि गुणवाले का यथायोग्य सत्कार करना है, उसको 'पूजा' कहते हैं।

६६—**अपूजा**—जो ज्ञानादि गुण रहित जड़ पदार्थ का और जो सत्कार के योग्य नहीं है उसका जो सत्कार करना है वह 'अपूजा' कहाती है।

६७—**जड़**— जो वस्तु ज्ञानादि गुणों से रहित है, उसको 'जड़' कहते हैं।

६८—**चेतन**—जो पदार्थ ज्ञानादि गुणों से युक्त है, उसको 'चेतन' कहते हैं।

६९—**भावना**— जो जैसी चीज हो विचार से उसमें वैसा ही निश्चय करना, कि जिसका विषय भ्रमरहित हो, अर्थात् जैसे को तैसा ही समझ लेना, उसको 'भावना' कहते हैं।

७०—**अभावना**— जो भावना से उल्टी हो, अर्थात् जो मिथ्याज्ञान से अन्य में अन्य निश्चय मान लेना है, जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़ का निश्चय कर लेते हैं, उसको 'अभावना' कहते हैं।

७१—**पण्डित**— जो सत्-असत् को विवेक से जानने वाला, धर्मात्मा, सत्यवादी, सत्यप्रिय, विद्वान् और सबका हितकारी है, उसको 'पण्डित' कहते हैं।

७२—**मूर्ख**— जो अज्ञान, हठ, दुराग्रहादि दोष सहित है, उसको 'मूर्ख' कहते हैं।

७३—**ज्येष्ठकनिष्ठव्यवहार**— जो बड़े और छोटों से यथायोग्य परस्पर मान्य करना है, उसको 'ज्येष्ठकनिष्ठव्यवहार' कहते हैं।

७४—**सर्वहित**— जो तन, मन और धन से सबके सुख बढ़ाने में उद्योग करना है, उसको 'सर्वहित' कहते हैं।

७५—**चोरीत्याग**— जो स्वामी की आज्ञा के विना किसी के पदार्थ का ग्रहण करना है वह 'चोरी' और उसका छोड़ना 'चोरीत्याग' कहाता है।

७६—**व्यभिचारत्याग**— जो अपनी स्त्री के विना दूसरी स्त्री के साथ गमन करना और अपनी स्त्री को भी ऋतुकाल के विना वीर्यदान देना तथा अपनी स्त्री के साथ भी वीर्य का अत्यन्त नाश करना

और युवावस्था के विना विवाह का करना है, यह सब व्यभिचार कहाता है। उसको छोड़ देने का नाम 'व्यभिचार त्याग' है।

७७—जीव का स्वरूप— जो चेतन, अल्पज्ञ, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान गुणवाला तथा नित्य है, वह 'जीव' कहाता है।

७८—स्वभाव— जिस वस्तु का जो स्वाभाविक गुण है, जैसे कि अग्नि में रूप और दाह, अर्थात् जब तक वह वस्तु रहे तब तक उसका वह गुण भी नहीं छूटता, इसलिये इसको 'स्वभाव' कहते हैं।

७९—प्रलय— जो कार्य-जगत् का कारणरूप होना है अर्थात् जगत् का करने वाला ईश्वर जिन जिन कारणों से सृष्टि बनाता है, कि अनेक कार्यों को रचके यथावत् पालन करके पुनः कारणरूप करके रखता है, उसका नाम 'प्रलय' है।

८०—मायावी— जो छल-कपट स्वार्थ में ही प्रसन्नता, दम्भ, अहङ्कार, शठतादि दोष हैं इसको माया कहते हैं और जो मनुष्य इनसे युक्त हो, वह 'मायावी' कहाता है।

८१—आप्त— जो छलादि दोषरहित, धर्मात्मा, विद्वान्, सत्योपदेष्टा, सब पर कृपादृष्टि से वर्तमान होकर, अविद्यान्धकार का नाश करके अज्ञानी लोगों के आत्माओं में विद्यारूप सूर्य का प्रकाश सदा करे, उसको 'आप्त' कहते हैं।

८२—परीक्षा— जो प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, वेदविद्या, आत्मा की शुद्धि और सृष्टिक्रम से अनुकूल विचारके सत्यासत्य को ठीक-ठीक निश्चय करना है, उसको 'परीक्षा' कहते हैं।

८३—**आठ प्रमाण**—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ये 'आठ प्रमाण' हैं। इन्हीं से सब सत्यासत्य का यथावत् निश्चय मनुष्य कर सकता है।

८४—**लक्षण**— जिससे लक्ष्य जाना जाय, जो कि उसका स्वाभाविक गुण है, जैसे कि रूप से अग्नि जाना जाता है इसलिए उसको 'लक्षण' कहते हैं।

८५—**प्रमेय**— जो प्रमाणों से जाना जाता है, जैसे कि आंख का प्रमेय रूप अर्थ है, जो कि इन्द्रियों से प्रतीत होता है, उसको 'प्रमेय' कहते हैं।

८६—**प्रत्यक्ष**— जो प्रसिद्ध शब्दादि पदार्थों के साथ श्रोत्रादि इन्द्रिय और मन के निकट सम्बन्ध से ज्ञान होता है, उसको 'प्रत्यक्ष' कहते है।

८७—**अनुमान**— किसी पूर्व दृष्ट पदार्थ के एक अङ्ग को प्रत्यक्ष देख के, पश्चात् उसके अदृष्ट अङ्गों का जिससे यथावत् ज्ञान होता है, उसको 'अनुमान' कहते हैं।

८८—**उपमान**— जैसे किसी ने किसी से कहा कि गाय के समतुल्य नील-गाय होती है, ऐसे जो किसी सादृश्य उपमा से ज्ञान होता है उसको 'उपमान' कहते हैं।

८९—**शब्द**— जो पूर्ण आप्त परमेश्वर और पूर्वोक्त आप्त मनुष्य का उपदेश है, उसी को 'शब्द' प्रमाण कहते है।

९०—**ऐतिह्य**— जो शब्द प्रमाण के अनुकूल हो, जो कि असम्भव और झूठ लेख न हो, उसी को 'ऐतिह्य' इतिहास कहते हैं।

९१—**अर्थापत्ति**— जो एक बात के कहने से दूसरी विना कहे समझी जाय, उसको 'अर्थापत्ति' कहते हैं।

९२—**सम्भव**— जो बात प्रमाण, युक्ति और सृष्टिक्रम से युक्त हो, वह 'सम्भव' कहाता है।

९३—**अभाव**— जैसे किसी ने किसी से कहा कि तू जल ले आ। उसने वहां देखा कि यहां जल नहीं है, परन्तु जहां जल है वहां से ले आना चाहिये। इस अभाव निमित्त से जो ज्ञान होता है उसको 'अभाव प्रमाण' कहते हैं।

९४—**शास्त्र**— जो सत्य विद्याओं के प्रतिपादन से युक्त हो और जिस करके मनुष्यों को सत्य-सत्य शिक्षा हो, उसको 'शास्त्र' कहते हैं।

९५—**वेद**— जो ईश्वरोक्त, सत्य विद्याओं से युक्त, ऋक्संहितादि चार पुस्तक हैं कि जिनसे मनुष्यों को सत्यासत्य ज्ञान होता है उनको 'वेद' कहते हैं।

९६—**पुराण**— जो प्राचीन ऐतरेय, शतपथब्राह्मणादि ऋषि-मुनि-कृत सत्यार्थ पुस्तक हैं, उन्हीं को 'पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशसी' कहते हैं।

९७—**उपवेद**— जो आयुर्वेद वैद्यकशास्त्र, जो धनुर्वेद शास्त्रास्त्र विद्या राजधर्म, जो गान्धर्ववेद गानशास्त्र और जो अर्थवेद शिल्पशास्त्र हैं इन चारों को 'उपवेद' कहते हैं।

९८—**वेदांग**— जो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष आर्ष सनातन शास्त्र हैं, इनको 'वेदांग' कहते हैं।

९९—**उपांग**— जो ऋषि-मुनि-कृत मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त छः शास्त्र हैं, इनको उपांग कहते हैं।

१००—**नमस्ते**— मैं तुम्हारा मान्य करता हूं।

वेदरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे विक्रमार्कस्य भूपतेः।
नभस्ये सितसप्तम्यां सौम्ये पूर्तिमगादियम्॥

श्रीयुत महाराज विक्रमादित्य जी के १९३४ के संवत् में श्रावण महीने के शुक्लपक्ष ७ सप्तमी बुधवार के दिन स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने आर्यभाषा में सब मनुष्यों के हितार्थ यह आर्य्योद्देश्यरत्नमाला पुस्तक प्रकाशित किया।

ООО

❄ ओ३म् ❄

नमो विश्वम्भराय जगदीश्वराय।।

अथ गोकरुणानिधिः

स्वामिदयानन्दसरस्वतीनिर्मितः

गाय आदि पशुओं की रक्षा से सब प्राणियों के सुख के लिये अनेक सत्पुरुषों की सम्मति के अनुसार आर्यभाषा में बनाया।

इसके अनुसार वर्त्तमान करने से संसार का बडा उपकार है।

ओ३म् नमो नमः सर्वशक्तिमते जगदीश्वराय ॥

गोकरुणानिधिः

इन्द्रो विश्वस्य राजति । शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥
—य. अ. ३६ । मं. ८ ॥

तनोतु सर्वेश्वर उत्तमम्बलं गवादिरक्षं विविधं दयेरितः ।
अशेषविघ्नानि निहत्य नः प्रभुः सहायकारी विदधातु गोहितम् ॥१॥

ये गोसुखं सम्यगुशन्ति धीरास्ते धर्म्मजं सौख्यमथाददन्ते ।
क्रूरा नराः पापरता न यन्ति प्रज्ञाविहीनाः पशुहिंसकास्तत् ॥२॥

भूमिका

वे धर्मात्मा विद्वान् लोग धन्य हैं, जो ईश्वर के गुण, कर्म्म, स्वभाव, अभिप्राय, सृष्टि-क्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण और आप्तों के आचार से अविरुद्ध चलके सब ससार को सुख पहुँचाते हैं। और शोक है उन पर जो कि इनसे विरुद्ध स्वार्थी दयाहीन होकर जगत् में हानि करने के लिये वर्त्तमान हैं। पूजनीय जन वे हैं जो अपनी हानि होती हो तो भी सब के हित के करने में अपना तन, मन, धन लगाते हैं। और तिरस्करणीय वे हैं जो अपने ही लाभ मे सन्तुष्ट रहकर सबके सुखों का नाश करते है।

ऐसा सृष्टि में कौन मनुष्य होगा जो सुख और दुःख को स्वयं न मानता हो? क्या ऐसा कोई भी मनुष्य है कि जिसके गले को काटे वा रक्षा करे, वह दुःख और सुख को अनुभव न करे? जब सब को लाभ और सुख ही में प्रसन्नता है, तो विना अपराध किसी प्राणी का प्राणवियोग करके अपना पोषण करना यह सत्पुरुषों के सामने निन्द्य

कर्म क्यों न होवे ? सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर इस सृष्टि में मनुष्यों के आत्माओं में अपनी दया और न्याय को प्रकाशित करे कि जिससे ये सब दया और न्याययुक्त होकर सर्वदा सर्वोपकारक काम करे, और स्वार्थपन से पक्षपातयुक्त होकर कृपापात्र गाय आदि पशुओ का विनाश न करे, कि जिससे दुग्ध आदि पदार्थो और खेती आदि क्रिया की सिद्धि से युक्त होकर सब मनुष्य आनन्द में रहें।

इस ग्रन्थ में जो कुछ अधिक, न्यून वा अयुक्त लेख हुआ हो उसको बुद्धिमान् लोग इस ग्रन्थ के तात्पर्य के अनुकूल कर लेवें। धार्मिक विद्वानों की यही योग्यता है कि वक्ता के वचन और ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्राय के अनुसार ही समझ लेते हैं। यह ग्रन्थ इसी अभिप्राय से रचा गया है कि जिससे गो आदि पशु जहां तक सामर्थ्य हो बचाये जावें और उनके बचाने से दूध, घी और खेती के बढ़ने से सब को सुख बढ़ता रहे। परमात्मा कृपा करे कि यह अभीष्ट शीघ्र सिद्ध हो।

इस ग्रन्थ मे तीन प्रकरण हैं—एक समीक्षा, दूसरा नियम और तीसरा उपनियम। इन को ध्यान दे पक्षपात छोड़ विचार के राजा तथा प्रजा यथावत् उपयोग में लावें कि जिससे दोनो के लिये सुख बढ़ता ही रहे।

॥ इति भूमिका ॥

—:※:—

॥ ओ३म् ॥

अथ गोकरुणानिधिः ॥

अथ समीक्षा-प्रकरणम्

—: ** :—

गोकृष्यादिरक्षिणीसभा

इस सभा का नाम 'गोकृष्यादिरक्षिणी' इसलिये रक्खा है जिससे गवादि पशु और कृष्यादि कर्म्मों की रक्षा और वृद्धि होकर सब प्रकार के उत्तम सुख मनुष्यादि प्राणियों को प्राप्त होते हैं, और इस के विना निम्नलिखित सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकते ।

सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर ने इस सृष्टि में जो जो पदार्थ बनाये हैं, वे वे निष्प्रयोजन नहीं, किन्तु एक एक वस्तु अनेक अनेक प्रयोजन के लिये रचा है । इसलिये उन से वे ही प्रयोजन लेना न्याय है अन्यथा अन्याय । देखिये जिसलिये यह नेत्र बनाया है, इससे वही कार्य लेना सब को उचित होता है, न कि उसको पूर्ण प्रयोजन न लेकर बीच ही में नष्ट कर दिया जावे । क्या जिन जिन प्रयोजनों के लिये परमात्मा ने जो जो पदार्थ बनाये हैं, उन उन से वे वे प्रयोजन न लेकर उनको प्रथम ही विनष्ट कर देना सत्पुरुषों के विचार में बुरा कर्म नहीं है ? पक्षपात छोड़ कर देखिये, गाय आदि पशु और कृषि आदि कर्मों से सब संसार को असख्य सुख होते हैं वा नहीं ? जैसे दो और दो चार, वैसे ही सत्यविद्या से जो जो विषय जाने जाते हैं वे अन्यथा कभी नहीं हो सकते ।

जो एक गाय न्यून से न्यून दो सेर दूध देती हो, और दूसरी बीस सेर, तो प्रत्येक गाय के ग्यारह सेर दूध होने में कुछ भी शका नही। इस हिसाब से एक मास में ८।ऽ सवा आठ मन दूध होता है। एक गाय कम से कम ६ महीने, और दूसरी अधिक से अधिक १८ महीने तक दूध देती है, तो दोनों का मध्यभाग प्रत्येक गाय के दूध देने में बारह महीने होते हैं। इस हिसाब से बारहों महीनों का दूध ९९ऽ निन्नानवे मन होता है। इतने दूध को औटा कर प्रति सेर में एक छटांक चावल और डेढ़ छटाक चीनी डाल कर खीर बना खावें, तो प्रत्येक पुरुष के लिये दो सेर दूध की खीर पुष्कल होती है। क्योंकि यह भी एक मध्यभाग की गिनती है, अर्थात् कोई दो सेर दूध की खीर से अधिक खायगा और कोई न्यून। इस हिसाब से एक प्रसूता गाय के दूध से १९८० एक हजार नवसौ अस्सी मनुष्य एक वार तृप्त होते हैं। गाय न्यून से न्यून ८ और अधिक से अधिक अट्ठारह वार ब्याती है, इसका मध्यभाग तेरह वार आया, तो २५७४० पच्चीस हजार सातसौ चालीस मनुष्य एक गाय के जन्म भर के दूधमात्र से एक बार तृप्त हो सकते हैं।

इस गाय की एक पीढ़ी में छः बछियां और सात बछड़े हुये। इनमें से एक का मृत्यु रोगादि से होना सम्भव है, तो भी बारह रहे। उन छः बछियाओं के दूधमात्र से उक्त प्रकार १५४४४० एक लाख चौवन हजार चारसौ चालीस मनुष्यों का पालन हो सकता है। अब रहे छः बैल, सो दोनों साख में एक जोड़ी से २००ऽ दोसौ मन अन्न उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार तीन जोड़ी ६००ऽ छः सौ मन अन्न उत्पन्न कर सकती हैं, और उनके कार्य का मध्यभाग आठ वर्ष है। इस हिसाब से ४८००ऽ चार हजार आठसौ मन अन्न उत्पन्न करने की शक्ति एक जन्म में तीनों जोड़ी की है। ४८००ऽ इतने मन अन्न से प्रत्येक मनुष्य का तीन पाव अन्न भोजन में गिनें, तो २५६००० दो

लाख छप्पन हजार मनुष्यों का एक वार भोजन होता है। दूध और अन्न को मिला कर देखने से निश्चय है कि ४१०४४० चार लाख दश हजार चारसौ चालीस मनुष्यों का पालन एक वार के भोजन से होता है। अब छः गाय की पीढ़ी परपीढ़ियों का हिसाब लगाकर देखा जावे तो असंख्य मनुष्यों का पालन हो सकता है। और इसके मांस से अनुमान है कि केवल अस्सी मांसाहारी मनुष्य एक वार तृप्त हो सकते है। देखो! तुच्छ लाभ के लिये लाखों प्राणियों को मार असंख्य मनुष्यों की हानि करना महापाप क्यों नहीं ?

यद्यपि गाय के दूध से भेंस का दूध कुछ अधिक और बैलों से भेंसा कुछ न्यून लाभ पहुँचाता है, तदपि जितना गाय के दूध और बैलों के उपयोग से मनुष्यों को सुखों का लाभ होता है वितना भेंसियों के दूध और भेंसों से नहीं। क्योंकि जितने आरोग्यकारक और बुद्धिवर्द्धक आदि गुण गाय के दूध और बैलों में होते हैं, वितने भेंस के दूध और भेंसे आदि में नहीं हो सकते। इसीलिये आर्यों ने गाय सर्वोत्तम मानी है।

और ऊंटनी का दूध गाय और भेंस के दूध से भी अधिक होता है, तो भी इन के दूध के सदृश नहीं। ऊंट और ऊटनी के गुण भार उठाकर शीघ्र पहुँचाने के लिये प्रशंसनीय हैं।

अब एक बकरी न्यून से न्यून एक और अधिक से अधिक पांच सेर दूध देती है, इसका मध्यभाग प्रत्येक बकरी से तीन सेर दूध होता है। और वह न्यून से न्यून तीन महीने और अधिक से अधिक पांच महीने तक दूध देती है, तो प्रत्येक बकरी के दूध देने में मध्यभाग चार महीने हुए। वह एक मास में २।ऽ सवा दो मन और चार मास में ९ऽ नव मन होता है। पूर्वोक्त प्रकारानुसार इस दूध से १८० एक सौ अस्सी मनुष्यों की तृप्ति होती है। और एक बकरी एक वर्ष में

दो वार ब्याती है। इस हिसाब से एक वर्ष में एक बकरी के दूध के एक वार भोजन से ३६० तीनसौ साठ मनुष्यों की तृप्ति होती है। कोई बकरी न्यून से न्यून चार वर्ष और कोई अधिक से अधिक ८ आठ वर्ष तक ब्याती है, इसका मध्य भाग ६ छः वर्ष हुआ, तो जन्मभर के दूध से २१६० दो हजार एक सौ साठ मनुष्यों का एक वार के भोजन से पालन होता है।

अब उसके बच्चा बच्ची मध्यभाग से २४ चौबीस हुए, क्योंकि कोई न्यून से न्यून एक और कोई अधिक से अधिक तीन बच्चों से ब्याती है। उनमें से दो का अल्पमृत्यु समझो, रहे २२ बाईस, उनमे से १२ बकरियों के दूध से २५९२० पच्चीस हजार नवसौ बीस मनुष्यों का एक दिन पालन होता है। उसकी पीढ़ी परपीढ़ी के हिसाब लगाने से असंख्य मनुष्यों का पालन हो सकता है। और बकरे भी बोझ उठाने आदि प्रयोजनों में आते हैं, और बकरा-बकरी मेंढा-भेड़ी के रोम और ऊन के वस्त्रों से मनुष्यों को बड़े बड़े सुख लाभ होते हैं। यद्यपि भेड़ी का दूध बकरी के दूध से कुछ कम होता है, तदपि बकरी के दूध से उसके दूध में बल और घृत अधिक होता है। इसी प्रकार अन्य दूध देने वाले पशुओं के दूध से भी अनेक प्रकार के सुख लाभ होते हैं।

जैसे ऊंट ऊंटनी से लाभ होते हैं, वैसे ही घोड़े घोड़ी और हाथी आदि से अधिक कार्य सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार सुअर, कुत्ता, मुर्गा, मुर्गी और मोर आदि पक्षियों से भी अनेक उपकार होते हैं। जो मनुष्य हिरण और सिंह आदि पशु और मोर आदि पक्षियों से भी उपकार लेना चाहें तो ले सकते हैं, परन्तु सब की रक्षा उत्तरोत्तर समयानुकूल होवेगी। वर्तमान में परमोपकारक गौ की रक्षा में मुख्य तात्पर्य है। दो ही प्रकार से मनुष्य आदि का प्राणरक्षण, जीवन, सुख, विद्या, बल और पुरुषार्थ आदि की वृद्धि होती है—एक अन्नपान,

दूसरा आच्छादन। इनमे से प्रथम के विना मनुष्यादि का सर्वथा प्रलय और दूसरे के विना अनेक प्रकार की पीड़ा प्राप्त होती है।

देखिये, जो पशु निःसार घास तृण पत्ते फल फूल आदि खावें और सार दूध आदि अमृतरूपी रत्न देवें, हल गाड़ी आदि में चल के अनेक विध अन्न आदि उत्पन्न कर सबके बुद्धि बल पराक्रम को बढा के नीरोगता करे, पुत्र पुत्री और मित्र आदि के समान मनुष्यो के साथ विश्वास और प्रेम करें, जहाँ बांधे वहाँ बंधे रहें, जिधर चलावें विधर चलें, जहां से हटावें वहां से हट जावें, देखने और बुलाने पर समीप चले आवें, जब कभी व्याघ्रादि पशु वा मारने वाले को देखें अपनी रक्षा के लिये पालन करनेवाले के समीप दौड़ कर आवें कि यह हमारी रक्षा करेगा। जिनके मरे पर चमड़ा भी कंटक आदि से रक्षा करे, जङ्गल में चर के अपने बच्चे और स्वामी के लिये दूध देने को नियत स्थान पर नियत समय चले आवे, अपने स्वामी की रक्षा के लिये तन मन लगावें, जिनका सर्वस्व राजा और प्रजा आदि मनुष्यो के सुख के लिये है, इत्यादि शुभगुणयुक्त, सुखकारक पशुओ के गले छुरों से काट कर जो मनुष्य अपना पेट भर, सब ससार की हानि करते हैं, क्या संसार में उनसे भी अधिक कोई विश्वासघाती, अनुपकारक, दुःख देने वाले और पापी मनुष्य होगे ?

इसीलिये **यजुर्वेद** के प्रथम ही मन्त्र में परमात्मा की आज्ञा है कि—**'अघ्न्याः यजमानस्य पशून् पाहि'** हे मनुष्य ! तू इन पशुओं को कभी मत मार, और यजमान अर्थात् सब के सुख देने वाले मनुष्यों के सम्बन्धी पशुओं की रक्षा कर, जिनसे तेरी भी पूरी रक्षा होवे। और इसीलिये ब्रह्मा से लेके आज पर्यन्त आर्य लोग पशुओं की हिसा में पाप और अधर्म समझते थे, और अब भी समझते हैं। और इन की रक्षा से अन्न भी महंगा नहीं होता, क्योंकि दूध आदि के अधिक होने से दरिद्र को भी खान पान में मिलने पर न्यून ही अन्न खाया जाता है, और अन्न के कम खाने से मल भी कम होता है। मल के

न्यून होने से दुर्गन्ध भी न्यून होता है, दुर्गन्ध के स्वल्प होने से वायु और वृष्टिजल की अशुद्धि भी न्यून होती है। उससे रोगों की न्यूनता होने से सबको सुख बढ़ता है।

इनसे यह ठीक है कि गो आदि पशुओं के नाश होने से राजा और प्रजा का भी नाश हो जाता है, क्योंकि जब पशु न्यून होते है, तब दूध आदि पदार्थ और खेती आदि कर्मों की भी घटती होती है। देखो, इसी से जितने मूल्य से जितना दूध और घी आदि पदार्थ तथा बैल आदि पशु सात सौ वर्ष के पूर्व मिलते थे, वितना दूध घी और बैल आदि पशु इस समय दशगुणे मूल्य से भी नही मिल सकते। क्योंकि सात सौ वर्ष के पीछे इस देश मे गवादि पशुओं को मारने वाले मांसाहारी विदेशी मनुष्य बहुत आ बसे हैं। वे उन सर्वोपकारी पशुओं के हाड़ मांस तक भी नहीं छोड़ते, तो **'नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम्'** जब कारण का नाश करदे तो कार्य नष्ट क्यों न हो जावे ? हे मांसाहारियो ! तुम लोग जब कुछ काल के पश्चात् पशु न मिलेंगे, तब मनुष्यों का मांस भी छोड़ोगे वा नहीं ? हे परमेश्वर ! तू क्यों इन पशुओं पर, जो कि विना अपराध मारे जाते हैं, दया नहीं करता ? क्या उन पर तेरी प्रीति नही है ? क्या उनके लिये तेरी न्यायसभा बन्ध हो गई है ? क्यों उनकी पीड़ा छुड़ाने पर ध्यान नहीं देता, और उनकी पुकार नही सुनता। क्यों इन मासाहारियों के आत्माओं में दया प्रकाश कर निष्ठुरता, कठोरता, स्वार्थपन और मूर्खता आदि दोषों को दूर नहीं करता ? जिससे ये इन बुरे कामों से बचें।

हिंसक और रक्षक का परस्पर संवाद :—

हिंसक—ईश्वर ने सब पशु आदि सृष्टि मनुष्य के लिये रची है, और मनुष्य अपनी भक्ति के लिये। इसलिये मांस खाने में दोष नहीं हो सकता।

रक्षक—भाई ! सुनो, तुम्हारे शरीर को जिस ईश्वर ने बनाया है, क्या उसी ने पशु आदि के शरीर नहीं बनाये हैं ? जो तुम कहो कि पशु आदि हमारे खाने को बनाये है, तो हम कह सकते हैं कि हिंसक पशुओं के लिये तुमको उसने रचा है, क्योंकि जैसे तुम्हारा चित्त उनके मांस पर चलता है, वैसे ही सिंह, गृध्र आदि का चित्त भा तुम्हारे मांस खाने पर चलता है, तो उन के लिये तुम क्यों नहीं?

हिं०—देखो, ईश्वर ने मनुष्यों के दांत पैने मांसाहारी पशुओं के समान बनाये हैं। इससे हम जानते हैं कि मनुष्यों को मांस खाना उचित है।

र०—जिन व्याघ्रादि पशुओं के दांत के दृष्टान्त से अपना पक्ष सिद्ध किया चाहते हो, क्या तुम भी उनके तुल्य ही हो ? देखो, तुम्हारी मनुष्य जाति उनकी पशु जाति, तुम्हारे दो पग और उनके चार, तुम विद्या पढ़ कर सत्यासत्य का विवेक कर सकते हो वे नहीं। और यह तुम्हारा दृष्टान्त भी युक्त नहीं, क्योंकि जो दांत का दृष्टान्त लेते हो तो बंदर के दांतों का दृष्टान्त क्यों नही लेते ? देखो ! बन्दरों के दांत सिंह और बिल्ली आदि के समान है और वे मांस कभी नहीं खाते। मनुष्य और बन्दर की आकृति भो बहुतसी मिलती है, जैसे मनुष्यों के हाथ पग और नख आदि होते हैं, वैसे ही बन्दरों के भी हैं। इसलिये परमेश्वर ने मनुष्यों को दृष्टान्त से उपदेश किया है कि जैसे बन्दर मांस कभी नहीं खाते और फलादि खाकर निर्वाह करते हैं, वैसे तुम भी किया करो। जैसा बन्दरों का दृष्टान्त सांगोपांग मनुष्यों के साथ घटता है, वैसा अन्य किसी का नही। इसलिये मनुष्यों को अति उचित है कि मांस खाना सर्वथा छोड़ देवें।

हिं०—देखो ! जो मांसाहारी पशु और मनुष्य हैं वे बलवान् और जो मास नहीं खाते, वे निर्बल होते है, इससे मांस खाना चाहिये।

र०—क्यों अल्प समझ की बातें मानकर कुछ भी विचार नहीं करते। देखो, सिंह मांस खाता और सुअर वा अरणा भैंसा मांस कभी नहीं खाता, परन्तु जो सिंह बहुत मनुष्यों के समुदाय में गिरे तो एक वा दो को मारता और एक दो गोली वा तलवार के प्रहार से मर भी जाता है, और जब वराही सुअर वा अरणा भैंसा जिस प्राणिसमुदाय मे गिरता है, तब उन अनेक सवारों और मनुष्यों को मारता और अनेक गोली बरछी तथा तलवार आदि के प्रहारों से भी शीघ्र नही गिरता, और सिंह उनसे डरके अलग सटक जाता है, और वह सिंह से नहीं डरता।

और जो प्रत्यक्ष दृष्टान्त देखना चाहो तो एक मांसाहारी का, एक दूध घी और अन्नाहारी मथुरा के मल्ल चौबे से बाहुयुद्ध हो तो अनुमान है कि मांसाहारा को पटक उसकी छाती पर चौबा चढ़ ही बैठेगा। पुन: परीक्षा होगा कि किस किस के खाने से बल न्यून और अधिक होता है। भला, तनिक विचार तो करो कि छिलकों के खाने से अधिक बल होता है अथवा रस और जो सार है उसके खाने से? मांस छिलके के समान और दूध घी सार रस के तुल्य है, इसको जो युक्तिपूर्वक खावे तो मांस से अधिक गुण और बलकारी होता है, फिर मांस का खाना व्यर्थ और हानिकारक, अन्याय अधर्म और दुष्ट कर्म क्यों नहीं?

हिं०—जिस देश में सिवाय मांस के अन्य कुछ भी नही मिलता, वहां वा आपत्काल में अथवा रोगनिवृत्ति के लिये मांस खाने में दोष नहीं होता।

र०—यह आपका कहना व्यर्थ है, क्योंकि जहां मनुष्य रहते है वहां पृथिवी अवश्य होती है। जहां पृथ्वा है वहां खेती वा फल फूल

आदि होते ही हैं, और जहां कुछ भी नहीं होता, वहां मनुष्य भी नहीं रह सकते। और जहां ऊसर भूमि है, वहा मिष्ट जल और फूल फलाहारादि के न होने से मनुष्यों का रहना भी दुर्घट है। और आपत्काल में भी अन्य उपायों से निर्वाह कर सकते हैं, जैसे मांस के न खानेवाले करते हैं। और विना मांस के रोगों का निवारण भी ओषधियों से यथावत् होता है, इसलिये मांस खाना अच्छा नहीं।

हिं०—जो कोई भी मांस न खावे तो पशु इतने बढ़ जायं कि पृथ्वी पर भी न समावे, और इसीलिये ईश्वर ने उनकी उत्पत्ति भी अधिक की है, तो मांस क्यों न खाना चाहिये ?

र०—वाह ! वाह ! वाह ! यह बुद्धि का विपर्यास आपको मांसाहार ही से हुआ होगा। देखो, मनुष्य का मांस कोई भी नहीं खाता, पुन: क्यों न बढ़ गये। और इनकी अधिक उत्पत्ति इसलिये है कि एक मनुष्य के पालन व्यवहार में अनेक पशुओं की अपेक्षा है। इसलिये ईश्वर ने उनको अधिक उत्पन्न किया है।

हिं०—ये जितने उत्तर किये, वे सब व्यवहार सम्बन्धी हैं, परन्तु पशुओं को मार के मांस खाने में अधर्म तो नही होता, और जो होता है तो तुम को होता होगा, क्योंकि तुम्हारे मत मे निषेध है। इसलिये तुम मत खाओ और हम खावें, क्योंकि हमारे मत में मांस खाना अधर्म नहीं है।

र०—हम तुम से पूछते हैं कि धर्म और और अधर्म व्यवहार ही में होते हैं वा अन्यत्र ? तुम कभी सिद्ध न कर सकोगे कि व्यवहार से भिन्न धर्माधर्म होते हैं। जिस जिस व्यवहार से दूसरों की हानि हो वह वह 'अधर्म', और जिस जिस व्यवहार से उपकार हो, वह वह 'धर्म' कहाता है। तो लाखों के सुख लाभकारक पशुओं का नाश करना अधर्म और उनकी रक्षा से लाखों को सुख पहुँचाना धर्म क्यों नहीं

मानते ? देखो, चोरी जारी आदि कर्म इसीलिये अधर्म है कि इनसे दूसरे की हानि होती है । नहीं तो जो जो प्रयोजन धनादि से उनके स्वामी सिद्ध करते हैं, वे ही प्रयोजन उन चोरादि के भी सिद्ध होते हैं । इसलिये यह निश्चित है कि जो जो कर्म जगत् में हानिकारक है वे वे 'अधर्म' और जो जो परोपकारक हैं वे वे 'धर्म' कहाते है ।

जब एक आदमी की हानि करने से चोरी आदि कर्म पाप मे गिनते हो, तो गवादि पशुओं को मार के बहुतों की हानि करना महापाप क्यों नहीं ? देखो ! मासाहारी मनुष्यों में दया आदि उत्तम गुण होते ही नहीं, किन्तु स्वार्थवश होकर दूसरे को हानि करके अपना प्रयोजन सिद्ध करने ही में सदा रहते हैं । जब मांसाहारी किसी पुष्ट पशु को देखता है, तभी उसको इच्छा होती है कि इसमें मांस अधिक है, मारकर खाऊं तो अच्छा हो । और जब मांस का न खानेवाला उसको देखता है तो प्रसन्न होता है कि यह पशु आनन्द में है । जैसे सिंह आदि मांसाहारी पशु किसी का उपकार तो नही करते, किन्तु अपने स्वार्थ के लिये दूसरे का प्राण भी ले मांस खाकर अति प्रसन्न होते हैं, वैसे ही मासाहारी मनुष्य भी होते हैं । इसलिये मांस का खाना किसी मनुष्य को उचित नहीं ।

हिं०—अच्छा जो यही बात है तो जब तक पशु काम में आवें तब तक उनका मांस न खाना चाहिये, जब बूढ़े हो जावें वा मर जावे तब खाने में कुछ भी दोष नहीं ।

र०—जैसे दोष उपकार करनेवाले माता पिता आदि के वृद्धावस्था में मारने और उनके मांस खाने में है, वैसे उन पशुओं की सेवा न कर मार के मांस खाने में है । और जो मरे पश्चात् उनका मांस खावे तो उसका स्वभाव मांसाहारी होने से अवश्य हिंसक होके हिंसारूपी पाप से कभी न बच सकेगा । इसलिये किसी अवस्था में मांस न खाना चाहिये ।

हिं०—जिन पशुओं और पक्षियों अर्थात् जंगल में रहने वालो से उपकार किसी का नहीं होता और हानि होती है, उनका मांस खाना चाहिये वा नहीं ?

र०—न खाना चाहिये, क्योंकि वे भी उपकार में आ सकते है । देखो, १०० सौ भङ्गी जितनी शुद्धि करते है, उनसे अधिक पवित्रता एक सुअर वा मुर्गा अथवा मोर आदि पक्षी सर्प आदि की निवृत्ति करने आदि अनेक उत्तम उपकार करते हैं । और जैसे मनुष्यों का खान पान दूसरे के खाने पीने से उनका जितना अनुपकार होता है, वैसे जंगली मांसाहारी का अन्न जंगली पशु और पक्षी हैं और जो विद्या वा विचार से सिंह आदि वनस्थ पशु और पक्षियों से उपकार लेवें तो अनेक प्रकार का लाभ उनसे भी हो सकता है । इस कारण मांसाहार का सर्वथा निषेध होना चाहिये ।

भला, जिनके दूध आदि खाने पीने में आते हैं, वे माता पिता के समान माननीय क्यों न होने चाहियें ? ईश्वर का सृष्टि से भी विदित होता है कि मनुष्यों से पशु और पक्षी आदि अधिक रहने से कल्याण है । क्योकि ईश्वर ने मनुष्यो के खाने पीने के पदार्थों से भी पशु और पक्षियों के खाने पीने के पदार्थ घास, वृक्ष, फूल, फलादि अधिक रचे हैं, और वे विना जोते, बोए, सींचे के पृथ्वी पर स्वयं उत्पन्न होते है । और वहां वृष्टि भी करता है, इसलिये समझ लीजिये कि ईश्वर का अभिप्राय उनके मारने में नही किन्तु रक्षा ही करने मे है ।

हिं०—जो मनुष्य पशु को मारके मांस खावे उन को पाप होता है, और जो बिकता मांस मूल्य से ले वा भैरव, चामुण्डा, दुर्गा, जखैया अथवा वाममार्ग और यज्ञ आदि की रीति से चढ़ा समर्पण कर खावे तो उनको पाप नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे विधि करके खाते हैं ।

र०—जो कोई मांस न खावे, न उपदेश और न अनुमति आदि

देवे, तो पशु आदि कभी न मारे जावें। क्योंकि इस व्यवहार में बहकावट लाभ और बिक्री न हो, तो प्राणियों को मारना बन्द ही हो जावे। इस में प्रमाण भी है :—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेत्ति घातकाः ।।

—मनु० अ. ५। श्लो० ५१ ।।

अर्थ—अनुमति = मारने की आज्ञा देने, मांस के काटने, पशु आदि के मारने, उनको मारने के लिये लेने और बेचने, मास के पकाने, परसने और खानेवाले आठ मनुष्य घातक हिंसक अर्थात् ये सब पापकारी हैं।

और भैरव आदि के निमित्त से भी मांस खाना मारना व मर-वाना महापापकर्म है। इसलिये दयालु परमेश्वर ने वेदों में मांस खाने वा पशु आदि के मारने की विधि नहीं लिखी।

मद्य भी मांस खाने का ही कारण है, इसी से यहां सक्षेप से थोड़ा-सा लिखते है—

प्रमत्त—कहोजो ! मांस छूटा, सो छूटा, परन्तु मद्य में तो कोई भी दोष नहीं हैं ?

शान्त—मद्य पीने में भी वैसे ही दोष है जैसे कि मास खाने में। मनुष्य मद्य पीने से नशे के कारण नष्टबुद्धि होकर अकर्त्तव्य कर लेता और कर्त्तव्य को छोड़ देता है, न्याय का अन्याय और अन्याय का न्याय आदि विपरीत कर्म करता है। और मद्य की उत्पत्ति विकृत पदार्थों से होती है, और वह मांसाहारी अवश्य हो जाता हैं, इसलिये इसके पीने से आत्मा में विकार उत्पन्न होते हैं। और जो मद्य पाता है, वह विद्यादि गुणों से रहित होकर उन दोषों में फंस कर अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फलों को छोड़ पशुवत् आहार,

निद्रा, भय, मैथुन आदि कर्मों में प्रवृत्त होकर अपने मनुष्य-जन्म को व्यर्थ कर देता है। इसलिये नशा अर्थात् मदकारक द्रव्यों का सेवन कभी न करना चाहिये।

जैसा मद्य है वैसे भांग आदि पदार्थ भी मादक हैं, इसलिये इनका सेवन कभी न करे, क्योंकि ये भी बुद्धि का नाश करके प्रमाद, आलस्य और हिंसा आदि में मनुष्य को लगा देते हैं। इसलिये मद्यपान के समान इनका भी सर्वथा निषेध ही है।

इसलिये हे धार्मिक सज्जन लोगो! आप इन पशुओं की रक्षा तन, मन और धन से क्यों नहीं करते? हाय!! बड़े शोक की बात है कि जब हिंसक लोग गाय, बकरे आदि पशु और मोर आदि पक्षियों को मारने के लिये ले जाते हैं, तब वे अनाथ तुम हमको देखके राजा और प्रजा पर बड़े शोक प्रकाशित करते हैं—कि देखो! हमको विना अपराध बुरे हाल से मारते हैं, और हम रक्षा करने तथा मारनेवालों को भी दूध आदि अमृत पदार्थ देने के लिये उपस्थित रहना चाहते हैं, और मारे जाना नहीं चाहते। देखो! हम लोगों का सर्वस्व परोपकार के लिये है, और हम इसीलिये पुकारते है कि हमको आप लोग बचावें, हम तुम्हारी भाषा में अपना दुःख नहीं समझा सकते, और आप लोग हमारी भाषा नहीं जानते, नहीं तो क्या हममें से किसी को कोई मारता, तो हम भी आप लोगों के सदृश अपने मारनेवालों को न्यायव्यवस्था से फांसी पर न चढ़वा देते? हम इस समय अतीव कष्ट में हैं, क्योंकि कोई भी हमको बचाने में उद्यत नही होता। और जो कोई होता है तो उससे मांसाहारी द्वेष करते हैं। अस्तु, वे तो स्वार्थ के लिये द्वेष करो तो करो, क्योंकि **'स्वार्थी दोषं न पश्यति'** जो स्वार्थ साधने में तत्पर हैं वे अपने दोषों पर ध्यान नहीं देते, किन्तु दूसरों को हानि हो तो हो मुझको सुख होना चाहिये, परन्तु जो उपकारी हैं वे इनके बचाने में अत्यन्त

पुरुषार्थ करे, जैसा कि आर्य लोग सृष्टि के आरम्भ से आज तक वेदोक्त रीति से प्रशंसनीय कर्म करते आये हैं वैसे ही सब भूगोलस्थ सज्जन मनुष्यों को करना उचित है।

धन्य है आर्यावर्त्त देशवासी आर्य लोगों को कि जिन्होंने ईश्वर के सृष्टिक्रम के अनुसार परोपकार ही में अपना तन, मन, धन लगाया और लगाते हैं, इसीलिये आर्यावर्त्तीय राजा, महाराजा, प्रधान और धनाढ्य लोग आधी पृथ्वी में जंगल रखते थे कि जिससे पशु और पक्षियों की रक्षा होकर ओषधियों का सार दूध आदि पवित्र पदार्थ उत्पन्न हों, जिनके खाने पीने से आरोग्य, बुद्धि-बल, पराक्रम आदि सद्गुण बढ़ें। और वृक्षों के अधिक होने से वर्षा-जल और वायु में आर्द्रता और शुद्धि अधिक होती है। पशु और पक्षी आदि के अधिक होने से खात भी अधिक होता है। परन्तु इस समय के मनुष्यों का इससे विपरीत व्यवहार है कि जंगलों को काट और कटवा डालना, पशुओं को मार और मरवा खाना और विष्ठा आदि का खात खेतों में डाल अथवा डलवा कर रोगों की वृद्धि करके संसार का अहित करना, स्वप्रयोजन साधना और परप्रयोजन पर ध्यान न देना; इत्यादि काम उलटे हैं।

'विषादप्यमृतं ग्राह्यम्' सत्पुरुषों का यही सिद्धान्त है कि विष से भी अमृत लेना। इसी प्रकार गाय आदि का मांस विषवत् महारोग-कारी छोड़कर और उनसे उत्पन्न हुए दूध आदि अमृत रोगनाशक हैं उनको लेना। अत एव इनकी रक्षा करके विषत्यागी और अमृतभोजी सब को होना चाहिये। सुनो बन्धुवर्गो! तुम्हारा तन, मन, धन गाय आदि की रक्षारूप परोपकार में न लगे तो किस काम का है? देखो, परमात्मा का स्वभाव कि जिसने सब विश्व और सब पदार्थ परोप-कार ही के लिये रच रक्खे हैं, वैसे तुम भी अपना तन, मन, धन परोपकार ही के लिये अर्पण करो।

बड़े आश्चर्य की बात है कि पशुओं को पीड़ा न होने के लिये न्यायपुस्तक में व्यवस्था भी लिखी है कि जो पशु दुर्बल और रोगी हों उनको कष्ट न दिया जावे और जितना बोझ सुखपूर्वक उठा सकें उतना ही उन पर धरा जावे। श्रीमती राजराजेश्वरी श्रीविक्टोरिया महाराणी का विज्ञापन भी प्रसिद्ध है कि इन अव्यक्तवाणी पशुओं को जो जो दुःख दिया जाता है वह वह न दिया जावे। जो यही बात है कि पशुओं को दुःख न दिया जावे, तो क्या भला मार डालने से भी अधिक कोई दुःख होता है ? क्या फांसी से अधिक दुःख बन्दीगृह में होता है ? जिस किसी अपराधी से पूछा जाय कि तू फांसी चढ़ने में प्रसन्न है वा बंधोघर पर रहने में ? तो वह स्पष्ट कहेगा कि फांसी में नहीं, किन्तु बन्धीघर के रहने में।

और जो कोई मनुष्य भोजन करने को उपस्थित हो उसके आगे से भोजन के पदार्थ उठा लिये जावें और उसको वहां से दूर किया जावे, तो क्या वह सुख मानेगा ? ऐसे ही आजकल के समय में कोई गाय आदि पशु सरकारी जंगल में जाकर घास और पत्ता जो कि उन्हीं के भोजनार्थ हैं विना महसूल दिये खावें वा खाने को जावें, तो बेचारे उन्हीं पशुओ और उनके स्वामियों की दुर्दशा होती है। जंगल में आग लग जावे तो कुछ चिन्ता नहीं, किन्तु वे पशु न खाने पावें। हम कहते हैं कि किसी अति क्षुधातुर राजा वा राजपुरुष के सामने आये चावल आदि वा डबलरोटी आदि छीन कर न खाने देवें और उनकी दुर्दशा की जावे तो जैसा दुःख इनको विदित होगा क्या वैसा ही उन पशु, पक्षियों और उनके स्वामियों को न होता होगा ?

ध्यान देकर सुनिये कि जैसा दुःख सुख अपने को होता है, वैसा ही औरों को भी समझा कीजिये। और यह भी ध्यान में रखिये कि वे पशु आदि और उनके स्वामी तथा खेती आदि कर्म करनेवाले

प्रजा के पशु आदि और मनुष्यों के अधिक पुरुषार्थ ही से राजा का ऐश्वर्य अधिक बढता और न्यून से नष्ट हो जाता है, इसीलिये राजा प्रजा से कर लेता है कि उनकी रक्षा यथावत् करे, न कि राजा और प्रजा के जो सुख के कारण गाय आदि पशु हैं उनका नाश किया जावे । इसलिये आज तक जो हुआ सो हुआ, आगे आँखें खोल कर सबके हानिकारक कर्मों को न कीजिये और न करने दीजिये । हा, हम लोगों का यही काम है कि आप लोगो को भलाई और बुराई के काम जता देवें, और आप लोगों का यही काम है कि पक्षपात छोड़ सबकी रक्षा और बढ़ती करने में तत्पर रहें । सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर हम और आप पर पूर्ण कृपा करे कि जिससे हम और आप लोग विश्व के हानिकारक कर्मों को छोड़ सर्वोपकारक कामों को करके सब लोग आनन्द में रहें । इन सब बातों को सुन मत डालना किन्तु सुन रखना, इन अनाथ पशुओं के प्राणों को शीघ्र बचाओ ।

हे महाराजाधिराज जगदीश्वर ! जो इनको कोई न बचावे तो आप इनकी रक्षा करने और हम से कराने में शीघ्र उद्यत हूजिये ।।

।। इति समीक्षा-प्रकरणम् ।।

—:***:—

२. इस सभा के नियम

१—सब विश्व को विविध सुख पहुँचाना, इस सभा का मुख्य उद्देश्य है, किसी की हानि करना प्रयोजन नहीं।

२—जो जो पदार्थ सृष्टिक्रमानुकूल जिस जिस प्रकार से अधिक उपकार में आवे, उस उस से आप्ताभिप्रायानुसार यथायोग्य सर्वहित सिद्ध करना इस सभा का परम पुरुषार्थ है।

३—जिस जिस कर्म्म से बहुत हानि और थोड़ा लाभ हो, उस उस को सभा कर्त्तव्य नहीं समझती।

४—जो जो मनुष्य इस परमहितकारी कार्य में, तन, मन, धन से प्रयत्न और सहायता करे, वह वह इस सभा में प्रतिष्ठा के योग्य होवे।

५—जो कि यह कार्य्य सर्वहितकारी है, इसलिये यह सभा भूगोलस्थ मनुष्य जाति से सहायता की पूरी आशा रखती है।

६—जो जो सभा देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में परोपकार हा करना अभीष्ट रखती है, वह-वह इस सभा की सहायकारिणी समझी जाती है।

७—जो जो जन राजनीति वा प्रजा के अभीष्ट से विरुद्ध, स्वार्थी, क्रोधी और अविद्यादि दोषों से प्रमत्त होकर राजा और प्रजा के लिये अनिष्ट कर्म्म करे, वह वह इस सभा का सम्बन्धी न समझा जावे।

—:※※:—

३. उपनियम

नाम

१—इस सभा का नाम "गोकृष्यादिरक्षिणी" है।

उद्देश

२—इस सभा के उद्देश वे ही हैं जो कि इसके नियमों मे वर्णन किये गये हैं।

३—जो लोग इस सभा में नाम लिखाना चाहें * और इस के उद्देशानुकूल आचरण करना चाहें वे इस सभा में प्रविष्ट हो सकते हैं, परन्तु उनकी आयु १८ वर्ष से न्यून न हो। जो लोग इस सभा में प्रविष्ट हों वे 'गोरक्षकसभासद्' कहलावेंगे।

४—जिन का नाम इस सभा में सदाचार से एक वर्ष रहा हो और वे अपने आय का शतांश वा अधिक मासिक वा वार्षिक इस सभा को दें, वे 'गोरक्षकसभासद्' हो सकते हैं। और सम्मति देने का अधिकार केवल गोरक्षकसभासदों ही को होगा।

(अ) गोरक्षकसभासद् बनने के लिये गोकृष्यादिरक्षिणी सभा में वर्ष भर नाम रहने का नियम किसी व्यक्ति के लिये अन्तरङ्गसभा शिथिल भी कर सकती है। इस सभा में वर्ष

---

* नोट—इस सभा में नाम लिखाने के लिये मन्त्री के पास इस प्रकार का पत्र भेजना चाहिये कि—'मैं प्रसन्नतापूर्वक इस सभा के उद्देशानुकूल, जो कि नियमों में वर्णन किये हैं, आचरण स्वीकार करता हूं। मेरा नाम इस सभा में लिख लीजिये।' परन्तु अन्तरङ्गसभा को अधिकार रहेगा कि किसी विशेष हेतु से उनका नाम इस सभा में लिखना स्वीकार न करे॥

भर रहकर गोरक्षकसभासद् बनने का नियम गोकृष्यादि-रक्षिणी सभा के दूसरे वर्ष से काम आवेगा।

(ब) राजा, सरदार वा बड़े बड़े साहूकार आदि को इस सभा के सभासद् बनने के लिये शतांश ही देना आवश्यक नहीं, वे एकवार वा मासिक वा वार्षिक अपने उत्साह वा सामर्थ्यानुसार दे सकते हैं।

(स) अन्तरङ्गसभा किसी विशेष हेतु से चन्दा न देने वाले पुरुष को भी गोरक्षकसभासद् बना सकती है।

(द) नीचे लिखी हुई विशेष दशाओं में उन सभासदों को भी, जो गोरक्षकसभासद् नहीं बने, सम्मति ली जा सकती है—

(१) जब नियमों में न्यूनाधिक शोधन करना हो।

(२) जब कि विशेष अवस्था में अन्तरङ्गसभा उनकी सम्मति लेनी योग्य और आवश्यक समझे।

५—जो इस सभा के उद्देश के विरुद्ध कर्म्म करेगा वह न तो गोरक्षक और न गोरक्षकसभासद् गिना जावेगा।

६—गोरक्षकसभासद् दो प्रकार के होंगे—एक साधारण और दूसरे माननीय। माननीय गोरक्षकसभासद् वे होंगे जो शतांश, १०) रु० मासिक वा इससे अधिक देवें अथवा एक वार २५०) रुपया दें, वा जिनको अन्तरङ्गसभा विद्या आदि श्रेष्ठ गुणों से माननीय समझे।

७—यह सभा दो प्रकार की होगी—एक साधारण, दूसरी अन्तरङ्ग।

८—साधारण सभा तीन प्रकार की होवे—१. मासिक, २. षाण्मासिक और ३. नैमित्तिक।

९—मासिकसभा—प्रतिमास एक वार हुआ करेगी, उसमे महीने भर का आय-व्यय और सभा के कार्यकर्त्ताओं की क्रियाओं का वर्णन किया जावे जो कि कथन योग्य हो ।

१०—षाण्मासिक सभा—कार्तिक और वैशाख के अन्त में हुआ करे, उस में आप्तोक्त विचार, मासिक सभा का कार्य, प्रत्येक प्रकार का आय-व्यय समझना और समझाना होवे ।

११—नैमित्तिक सभा—जब कभी मन्त्री, प्रधान और अन्तरङ्गसभा आवश्यक कार्य जाने उसी समय यह सभा हो और उसमें विशेष कार्यों का प्रबन्ध होवे ।

१२—अन्तरङ्गसभा—सभा के सब कार्यप्रबन्ध के लिये एक अन्तरङ्ग-सभा नियत की जावे, और इसमें तीन प्रकार के सभासद् हो—एक प्रतिनिधि, दूसरे प्रतिष्ठित और तीसरे अधिकारी ।

१३—प्रतिनिधि सभासद् अपने अपने समुदायो के प्रतिनिधि होंगे, और उन्हें उनके समुदाय नियत करेंगे । कोई समुदाय जब चाहे अपने प्रतिनिधि को बदल सकता है ।

१४—प्रतिनिधि सभासदों के विशेष कार्य ये होंगे—

(अ) अपने अपने समुदायों की सम्मति से अपने को विज्ञ रखना ।

(ब) अपने अपने अपने समुदायों को अन्तरङ्गसभा के कार्य, जो कि प्रकट करने के योग्य हों, बतलाना ।

(स) अपने अपने समुदायों से चन्दा इकट्ठा करके कोषाध्यक्ष को देना ।

१५—प्रतिष्ठित सभासद् विशेष गुणों के कारण प्राय: वार्षिक, नैमित्तिक और साधारण सभा में नियत किये जावें, प्रतिष्ठित सभासद् अन्तरङ्गसभा में एक तिहाई से अधिक न हों।

१६—प्रति वैशाख की सभा में अन्तरङ्गसभा के प्रतिष्ठित सभासद् और अधिकारी वार्षिक साधारण सभा में फिर से नियत किये जावे, और कोई पुराना प्रतिष्ठित सभासद् और अधिकारी पुनर्वार नियुक्त हो सकता है।

१७—जब वर्ष के पहिले किसी प्रतिष्ठित सभासद् और अधिकारी का स्थान रिक्त हो, तो अन्तरङ्गसभा आप ही उसके स्थान पर किसी और योग्य पुरुष को नियत कर सकती है।

१८—अन्तरङ्गसभा कार्य के प्रबन्ध निमित्त उचित व्यवस्था बना सकती है, परन्तु वह नियमों और उपनियमों से विरुद्ध न हो।

१९—अन्तरङ्गसभा किसी विशेष कार्य के करने और सोचने के लिये अपने में से सभासदों और विशेष गुण रखने वाले सभासदों को मिलाकर उपसभा नियत कर सकती है।

२०—अन्तरङ्गसभा का कोई सभासद् मन्त्री को एक सप्ताह के पहिले विज्ञापन दे सकता है कि कोई विषय सभा में निवेदन किया जावे, और वह विषय प्रधान की आज्ञानुसार निवेदन किया जावे। परन्तु जिस विषय के निवेदन करने में अन्तरङ्ग-सभा के पांच सभासद् सम्मति दें, वह अवश्य निवेदन करना ही पड़े।

२१—दो सप्ताह के पीछे अन्तरङ्गसभा अवश्य हुआ करे, और मन्त्री और प्रधान की आज्ञा से वा जब अन्तरङ्गसभा के पाँच सभासद् मन्त्री को पत्र लिखें, तो भी हो सकती है।

२२—अधिकारी छः प्रकार के होंगे—१—प्रधान, २—उपप्रधान, ३—मन्त्री, ४—उपमन्त्री, ५—कोषाध्यक्ष, ६—पुस्तकाध्यक्ष ।

मन्त्री, कोषाध्यक्ष, पुस्तकाध्यक्ष इनके अधिकारो पर आवश्यकता होने से एक से अधिक पुरुष भी नियत हो सकते हैं । और जब किसी अधिकार पर एक से अधिक पुरुष नियत हों तो अन्तरङ्गसभा उन्हें कार्य बांट देवे ।

२३—**प्रधान**—प्रधान के निम्नलिखित अधिकार और काम होवें—

१—प्रधान अन्तरङ्गसभा आदि सब सभाओं का सभापति समझा जावे ।

२—सदा सभा के सब कार्यों के यथावत् प्रवन्ध करने और सर्वथा सभा को उन्नति और रक्षा में तत्पर रहे । सभा के प्रत्येक कार्य्य को देखे कि वे नियमानुसार किये जाते है वा नहीं, और स्वयं नियमानुसार चले ।

३—यदि कोई विषय कठिन और आवश्यक प्रतीत हो, तो उसका यथोचित प्रबन्ध उसी समय करे, और उसके बिगड़ने में उत्तरदाता वही होवे ।

४—प्रधान अपने प्रधानत्व के कारण सब उपसभाओं का, जिन्हें अन्तरङ्गसभा संस्थापन करे, सभासद् हो सकता है ।

२४—**उपप्रधान**—इस के ये कार्य्य कर्त्तव्य हैं—

प्रधान के अनुपस्थित होने पर उसका प्रतिनिधि होवे । यदि दो वा अधिक उपप्रधान हों तो सभा की सम्मति के अनुसार उनमें से कोई एक प्रतिनिधि किया जावे, परन्तु सभा के सब कार्य्यों में प्रधान को सहायता देनी उसका मुख्य कार्य है ।

२५—**मन्त्री**—मन्त्री के निम्नलिखित अधिकार और कार्य हैं—

१—अन्तरङ्गसभा की आज्ञानुसार सभा की ओर से सब के साथ पत्र-व्यवहार रखना।

२—सभाओं का वृत्तान्त लिखना और दूसरी सभा होने से पहले ही पूर्व वृत्तान्त पुस्तक में लिखना वा लिखवा देना।

३—मासिक अन्तरङ्गसभाओं में उन गोरक्षकों वा गोरक्षक-सभासदों के नाम सुनाना जो कि पिछली मासिकसभा के पीछे सभा मे प्रविष्ट वा उससे पृथक् हुये हों।

४—सामान्य प्रकार से भृत्यों के कार्य पर दृष्टि रखना, और सभा के नियम, उपनियम और व्यवस्थाओं के पालन पर ध्यान रखना।

५—इस बात का भी ध्यान रखना कि प्रत्येक गोरक्षक-सभासद् किसी न किसी समुदाय में हों, और इसका भी कि प्रत्येक समुदाय ने अपनी ओर से अन्तरङ्गसभा में प्रतिनिधि किया होवे।

६—पहिले विज्ञापन दिये जाने पर मान्यपुरुषों को सत्कारपूर्वक बिठलाना।

७—प्रत्येक सभा में नियत काल पर आना और बराबर ठहरना।

२६—**कोषाध्यक्ष**—कोषाध्यक्ष के नीचे लिखे अधिकार और कार्य हैं—

१—सभा के सब आयधन का लेना, उसकी रसीद देना और उसको यथोचित रखना।

२—किसी को अन्तरङ्गसभा की आज्ञा के विना रुपया न देना किन्तु मन्त्री और प्रधान को भी उस प्रमाण से देवे कि जितना अन्तरङ्गसभा ने उनके लिये नियत किया हो, अधिक न देना। और धन के उचित व्यय के लिये वही अधिकारी, जिसके द्वारा वह व्यय हुआ हो, उत्तरदाता होवे।

३—सब धन के व्यय का रीतिपूर्वक बहीखाता रखना, और प्रतिमास अन्तरङ्गसभा में हिसाब को बहीखाते समेत परताल और स्वीकार के लिये निवेदन करना।

२७—**पुस्तकाध्यक्ष**—पुस्तकाध्यक्ष के अधिकार और कार्य ये होवें—

१—जो पुस्तकालय में सभा की स्थिर और विक्रय की पुस्तक हों उन सब की रक्षा करे और पुस्तकालय सम्बन्धी हिसाब भी रक्खे और पुस्तकों के लेनेदेने का कार्य भी करे।

मिश्रित नियम

२८—सब गोरक्षक-सभासदों की सम्मति निम्नलिखित दशाओं में लीजावे—

१—अन्तरङ्गसभा का यह निश्चय हो कि किसी साधारणसभा के सिद्धान्त पर निर्भर न करना चाहिये, किन्तु गोरक्षक-सभासदों की सम्मति जाननी चाहिये।

२—सब गोरक्षक सभासदों का बीसवां वा अधिक अंश इस निमित्त मन्त्री के पास पत्र लिख भेजे।

३—जब बहुत से व्ययसम्बन्धी वा प्रबन्धसम्बन्धी नियम अथवा व्यवस्था-सम्बन्धी कोई मुख्य विचारादि करना हो।

अथवा जब अन्तरङ्गसभा सब गोरक्षक सभासदों की सम्मति जाननी चाहे ।

२९—जब किसी सभा में थोड़े से समय के लिये कोई अधिकारी उपस्थित न हो, तो उसके स्थान में उस समय के लिये किसी योग्यपुरुष को अन्तरङ्गसभा नियत कर सकती है ।

३०—यदि किसी अधिकारी के स्थान पर वार्षिक साधारण सभा में कोई पुरुष नियत न किया जावे, तो जब तक उस के स्थान पर नियत न किया जाय, वही अधिकारी अपना काम करता रहे ।

३१—सब सभा और उपसभाओं का वृत्तान्त लिखा जाया करे, और उसको सब गोरक्षकसभासद् देख सकते हैं ।

३२—सब सभाओं का कार्य तब आरम्भ हो, जब न्यून से न्यून एक तिहाई सभासद् उपस्थित हों ।

३३—सब सभाओं और उपसभाओं के सारे काम बहुपक्षानुसार निश्चित हों ।

३४—आय का दशांश समुदाय धन में रक्खा जावे ।

३५—सब गोरक्षक और गोरक्षक-सभासदों को इस सभा की उपयोगी वेदादि विद्या जाननी और जनानी चाहिये ।

३६—सब गोरक्षक और गोरक्षक-सभासदों को उचित है कि लाभ और आनन्द समय में सभा की उन्नति के लिये उदारता और पूर्ण प्रेमदृष्टि रक्खें ।

३७—सब गोरक्षक और गोरक्षक-सभासदों को उचित है कि शोक और दुःख के समय में परस्पर सहायता करें, और आनन्दोत्सव में निमन्त्रण पर सहायक हों, छोटाई बड़ाई न गिनें ।

३८—कोई गोरक्षक भाई किसी हेतु से अनाथ वा किसी की स्त्री विधवा अथवा सन्तान अनाथ हो जाये अर्थात् उनका जीवन न हो सकता हो, और यदि गोकृष्यादिरक्षिणी सभा उनको निश्चित जान ले, तो यह सभा उनकी रक्षा में यथाशक्ति यथोचित प्रबन्ध करे ।

३९—यदि गोरक्षक-सभासदों में किन्हीं का परस्पर झगड़ा हो, तो उनको उचित है कि वे आपस में समझ लेवें, वा गोरक्षक सभासदों की न्यायउपसभा द्वारा उसका न्याय करालें । परन्तु अशक्यावस्था में राजनीति द्वारा भी न्याय करा लेवें ।

४०—इस गोकृष्यादिरक्षिणी सभा के व्यवहार में जितना-जितना लाभ होगा वह-वह सर्व-हितकारी काम में लगाया जावे, किन्तु यह महाधन तुच्छ कार्य में व्यय न किया जावे । और जो कोई इस गोकृष्यादि की रक्षा के लिये जो धन है उसको चोरी से अपहरण करेगा, वह गोहत्या के पाप लगने से इस लोक और परलोक में महादुःखभागी अवश्य होगा ।

४१—सम्प्रति इस सभा के धन का व्यय गवादि पशु लेने, उनका पालन करने, जङ्गल और घास के क्रय करने, उनकी रक्षा के लिये भृत्य वा अधिकारी रखने, तालाब, कूप, बावड़ी अथवा बाड़ा के लिये व्यय किया जावे । पुनः अत्युन्नत होने पर सर्वहित कार्यों में भी व्यय किया जावे

४२—सब सज्जनों को उचित है कि इस गोरक्षक धन आदि समुदाय पर स्वार्थ-दृष्टि से हानि करना कभी मन से भी न विचारें, किन्तु यथाशक्ति इस व्यवहार की उन्नति में तन, मन, धन से सदा परम प्रयत्न किया ही करें ।

४३—इस सभा के सब सभासदों को यह बात अवश्य जाननी चाहिये कि जब गवादि पशु रक्षित होके बहुत बढ़ेंगे, तब कृषि आदि कर्म और दुग्ध घृत आदि की वृद्धि होकर सब मनुष्यादि को विविध सुख लाभ अवश्य होगा। इसके विना सब का हित सिद्ध होना सम्भव नहीं।

४४—देखिये, पूर्वोक्त रीत्यनुसार एक गौ की रक्षा से लाखों मनुष्यादि को लाभ पहुँचाना, और जिसके मारने से उतने ही की हानि होती है, ऐसे निकृष्ट कर्म के करने को आप्त विद्वान् कभी अच्छा न समझेगा।

४५—इस सभा के जो पशु प्रसूत होंगे उस-उस का दूध एक मास तक उसके बछड़े को पिलाना और अधिक उसी पशु को अन्न के साथ खिला देना चाहिये, और दूसरे मास में तीन स्तनों का दूध बछड़े का देना और एक भाग लेना चाहिये, तीसरे मास के आरम्भ से आधा दुह लेना और आधा बछड़े को तब तक दिया करें कि जब तक गौ दूध देवे।

४६—सभासदों को उचित है कि जब-जब किसी को स्वरक्षित पशु देवे तब-तब न्यायनियमपूर्वक व्यवस्थापत्र ले और देकर जब वह पशु असमर्थ हो जाय, उसके काम का न रहे और उसके पालन करने में सामर्थ्य न हो, तो अन्य किसी को न दे सके, किन्तु पुनरपि सभा के आधीन करे।

४७—इस सभा की अन्तरङ्ग सभा को उचित है किन्तु अत्यावश्यक है कि उक्त प्रकार से अप्राप्त पशुओं की प्राप्ति, प्राप्तों की रक्षा, रक्षितों की वृद्धि और बढ़े हुए पशुओं से नियमानुसार और सृष्टिक्रमानुकूल उपकार लेना, अपने अधिकार में सदा रखना, अन्य किसी को इसमें स्वाधीनता कभी न देवे।

४८—जो कि यह बहुत उपकारी कार्य है इसलिये इसका करने वाला इस लोक और परलोक में स्वर्ग अर्थात् पूर्ण सुखों को अवश्य प्राप्त होता है।

४९—कोई भी मनुष्य इस सभा के पूर्वोक्त उद्देशों को किये विना सुखों की सिद्धि नहीं कर सकता।

५०—क्या ऐसा कोई भी मनुष्य सृष्टि में होगा कि जो अपने सुख दुःखवत् दूसरे प्राणियों का सुख दुःख अपने आत्मा में न समझता हो।

५१—ये नियम और उपनियम उचित समय पर वा प्रतिवर्ष में यथोचित विज्ञापन देने पर शोधे वा घटाये बढ़ाये जा सकते हैं॥

ओ३म् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

धेनुः परा दयापूर्णा यस्यानन्दाद्विराजते।
आख्यायां निर्मितस्तेन ग्रन्थो गोकरुणानिधिः॥ १॥

मुनिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे तपस्यस्यासिते दले।
दशम्यां गुरुवारेऽलङ्कृतोऽयं कामधेनुपः॥ २॥

॥ इति गोकरुणानिधिः॥

—:*:—

❁ ओ३म् ❁

अथ पञ्चमहायज्ञविधिः

छन्दः शिखरिणी

दयाया आनन्दो विलसित परः स्वात्मविदितः
सरस्वत्यस्याग्रे निवसति मुदा सत्यनिलया।
ईयं ख्यातिर्यस्य प्रकटसुगुणा वेदशरणा-
स्त्यनेनायं ग्रन्थों रचित इति बोद्धव्यमनघाः।।

श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मितः
वेदमन्त्राणां संस्कृतप्राकृतभाषार्थसहितः

सन्ध्योपासनाग्निहोत्रपितृसेवाबलिवैश्वदेवातिथिपूजा-
नित्यकर्मानुष्ठानाय संशोध्य यन्त्रयितः

पञ्चमहायज्ञविधिस्थविषयसूची

* ओ३म् *

अथ सन्ध्योपासनादिपञ्चमहायज्ञविधिः

यह पुस्तक नित्यकर्मविधि का है। इसमें पञ्चमहायज्ञ का विधान है, जिनके ये नाम हैं कि—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ[1] और नृयज्ञ[2]। उनके मन्त्र, मन्त्रों के अर्थ और जो-जो करने का विधान लिखा है, सो-सो यथावत् करना चाहिये। एकान्त देश में अपने आत्मा, मन और शरीर को शुद्ध और शान्त करके, उस-उस कर्म में चित्त लगा के, तत्पर होना चाहिये। इन नित्यकर्मों के फल ये हैं कि—ज्ञानप्राप्ति से आत्मा की उन्नति और आरोग्यता होने से, शरीर के सुख से व्यवहार और परमार्थ कार्य्यों की सिद्धि होना। उससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये सिद्ध होते है। इनको प्राप्त होकर मनुष्यों को सुखी होना उचित है।

अथ तेषां प्रकारः। तत्रादौ ब्रह्मयज्ञान्तर्गतसन्ध्याविधानं प्रोच्यते। तत्र **सन्ध्याशब्दार्थः**—'सन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या'। तत्र रात्रिन्दिवयोः सन्धिवेलायामुभयोस्सन्ध्ययोः सर्वैर्मनुष्यैरवश्यं परमेश्वरस्यैव स्तुतिप्रार्थनोपासनाः कार्य्याः।

आदौ शरीरशुद्धिः कर्त्तव्या—

सा बाह्या जलादिना, आभ्यन्तरा रागद्वेषासत्यादित्यागेन।

अत्र प्रमाणम्—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

इत्याह मनुः—अ० ५। श्लो० १०९॥

---

१. बलि वैश्वदेव यज्ञ। स० २. अतिथि यज्ञ। स०

शरीरशुद्धेस्सकाशादात्मान्तःकरणशुद्धिरवश्यं[1] सर्वैस्सम्पादनीया। तस्यास्सर्वोत्कृष्टत्वात् परब्रह्मप्राप्त्येकसाधनत्वाच्च ।

ततो मार्जनं कुर्यात्—

नैवेश्वरध्यानादावालस्यं भवेदेतदर्थं शिरोनेत्राद्युपरि जलप्रक्षेपणं कर्त्तव्यम् । नो चेन्न ।

भावार्थ—अब सन्ध्योपासनादि पाँच महायज्ञों की विधि लिखी जाती है । और उसमें के मन्त्रों का अर्थ भी लिखा जाता है । पहिले सन्ध्या' शब्द का अर्थ यह है कि—(सन्ध्यायन्ति०) भली भाँति ध्यान करते हैं वा ध्यान किया जाय परमेश्वर का जिसमें, वह 'सन्ध्या' । सो रात और दिन के संयोग समय दोनों सन्ध्याओं में सब मनुष्यों को परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये ।

पहिले बाह्य जलादि से शरीर की शुद्धि और राग द्वेष आदि के त्याग से भीतर की शुद्धि करनी चाहिये। क्योंकि मनुजी ने अध्याय ५ के १०९ श्लोक (अद्भिर्गात्राणि इत्यादि) में यह लिखा है कि शरीर जल से, मन सत्य से, जीवात्मा विद्या और तप से और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है । परन्तु शरीरशुद्धि की अपेक्षा अन्तःकरण की शुद्धि सबको अवश्य करनी चाहिये । क्योंकि वही सर्वोत्तम और परमेश्वर प्राप्ति का एक साधन है ।

तब कुशा वा हाथ से मार्जन करे । अर्थात् परमेश्वर का ध्यान आदि करने के समय किसी प्रकार का आलस्य न आवे, इसलिये शिर और नेत्र आदि पर जल प्रक्षेप करे । यदि आलस्य न हो तो न करना ।

---

१. "अपेक्षया" इत्यर्थः । सं०

पुनर्न्यूनान्न्यूनांस्त्रीन् प्राणायामान् कुर्य्यात्—

आभ्यन्तरस्थं वायुं नासिकापुटाभ्यां बलेन बहिर्निस्सार्य्य यथाशक्ति बहिरेव स्तम्भयेत् । पुनः शनैश्शनैर्गृहीत्वा किंचित् तमवरुध्य पुनस्तथैव बहिर्निस्सारयेदवरोधयेच्च । एवं त्रिवारं न्यूनातिन्यूनं कुर्य्याद् । अनेनात्ममनसोः स्थितिं सम्पादयेत् ।

ततो गायत्रीमन्त्रेण शिखां बद्ध्वा रक्षाञ्च कुर्य्यात्—

इतस्ततः केशा न पतेयुरेतदर्थं शिखाबन्धनम् । प्रार्थितस्सन्नी-श्वरस्सत्कर्मसु सर्वत्र सर्वदा रक्षेन्नः, एतदर्थं रक्षाकरणम् ।

भावार्थ—फिर कम से कम तीन प्राणायाम करे । अर्थात् भीतर के वायु को बल से निकाल कर यथाशक्ति बाहर ही रोक दे । फिर शनैः शनैः ग्रहण करके कुछ चिर भीतर ही रोक के बाहर निकाल दे, और वहाँ भी कुछ रोके । इस प्रकार कम से कम तीन वार करे । इससे आत्मा और मन की स्थिति सम्पादन करे ।

इसके अनन्तर गायत्रीमन्त्र से शिखा को बाँध के रक्षा करे । इसका प्रयोजन यह है कि इधर उधर केश न गिरें, सो यदि केशादि पतन न हो तो न करे और रक्षा करने का प्रयोजन यह है कि परमेश्वर प्रार्थित होकर सब भले कामों में सदा सब जगह में हमारी रक्षा करे ।

अथाचमनमन्त्रः—

ओं शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये ।
शंयोरभि स्रवन्तु नः ॥ य० अ० ३६ । म० १२ ॥

भाष्यम्—'आप्लृ व्याप्तौ' अस्माद्धातोरप्शब्दः सिध्यति । अप्शब्दो नियतस्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च । 'दिवु क्रीडाद्यर्थः' । (शन्नो दे०) देव्य

आपः सर्वप्रकाशकस्सर्वानन्दप्रदस्सर्वव्यापक ईश्वरः, (अभिष्टये) इष्टानन्दप्राप्तये, (पीतये) पूर्णानन्दभोगेन तृप्तये, (नः) अस्मभ्य, (शम्) कल्याणं, (भवन्तु) अर्थात् भावयतु प्रयच्छतु। ता आपो देव्यः स एवेश्वरः (नः) अस्मभ्यं, (शंयोः) शम् (अभि स्रवन्तु) अर्थात् सुखस्याभितः सर्वतो वृष्टिं करोतु।

अप्शब्देनेश्वरस्य ग्रहणम्। अत्र प्रमाणम्—

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः।
असच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥

अथ० कां० १०। सू० ७। मं० १०॥

अनेन वेदमन्त्रप्रमाणेनाप्शब्देन परमात्मनोऽत्र ग्रहणं क्रियते॥

एवमनेन मन्त्रेणेश्वरं प्रार्थयित्वा त्रिराचामेत्। जलाभावश्चेन्नैव कुर्यात्। आचमनमप्यालस्यस्य कण्ठस्थकफस्य निवारणार्थम्।

भावार्थ—अब आचमन करने का मन्त्र लिखते हैं—(ओं शन्नो देवी इत्यादि)। इसका अर्थ वह है कि—'आप्लृ व्याप्तौ' इस धातु से अप् शब्द सिद्ध होता है। वह सदा स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त है। 'दिवु' धातु अर्थात् जिसके क्रीड़ा आदि अर्थ हैं, उससे देवी शब्द सिद्ध होता है। (देवीः आपः) सबका प्रकाशक, सबको आनन्द देने वाला और सर्वव्यापक ईश्वर, (अभिष्टये) मनोवाञ्छित आनन्द के लिये, और (पीतये) पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिये, (नः) हमको (शम्) कल्याण-कारी (भवन्तु) हो, अर्थात् हमारा कल्याण करे। वही परमेश्वर (नः) हम पर (शंयोः) सुख की (अभिस्रवन्तु) सर्वथा वृष्टि करे।

यहाँ 'अप्' शब्द से ईश्वर के ग्रहण करने में प्रमाण—(यत्र लोकांश्च०) जिसमें सब लोक लोकान्तर, कोश अर्थात् सब जगत् का कारणरूप खजाना, जिसमें असत् अदृश्यरूप आकाशादि और सत् स्थूल प्रकृत्यादि सब पदार्थ स्थित हैं, उसी का नाम अप् है। और वह

नाम ब्रह्म का है, तथा उसी को स्कम्भ कहते हैं। वह कौनसा देव और कहाँ है ? इसका यह उत्तर है कि जो (अन्तः) सबके भीतर व्यापक होके परिपूर्ण हो रहा है, उसी को तुम उपास्य, पूज्य और इष्टदेव जानो। इस वेदमन्त्र के प्रमाण से अप् नाम ब्रह्म का है।

इस प्रकार इस मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना करके तीन आचमन करे, यदि जल न हो तो न करे। आचमन से गले के कफादि की निवृत्ति होना प्रयोजन है।

अथेन्द्रियस्पर्शः—

ओं वाक् वाक्। ओं प्राणः प्राणः। ओं चक्षुः चक्षुः। ओं श्रोत्रम् श्रोत्रम्। ओं नाभिः। ओं हृदयम्। ओं कण्ठः। ओं शिरः। ओं बाहुभ्यां यशोबलम्। ओं करतलकरपृष्ठे॥

भाष्यम्—एभिः सर्वैश्वर्यप्रार्थनया स्पर्शः कार्य्यः। सर्वदेश्वर-कृपयेन्द्रियाणि बलवन्ति तिष्ठन्त्वित्यभिप्रायः॥

अथेश्वरप्रार्थनापूर्वकमार्जनमन्त्राः—

ओं भूः पुनातु शिरसि। ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः। ओं स्वः पुनातु कण्ठे। ओं महः पुनातु हृदये। ओं जनः पुनातु नाभ्याम्। ओं तपः पुनातु पादयोः। ओं सत्यं पुनातु पुनर्शिरसि। ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र॥

भाष्यम्—ओमित्यस्य, भूर्भुवः स्वरित्येतासां चार्था गायत्रीमन्त्रार्थे द्रष्टव्याः। महरर्थात् सर्वेभ्यो महान् सर्वैः पूज्यश्च। सर्वेषां जनकत्वा-ज्जनः परमेश्वरः। दुष्टानां संतापकारकत्वात् स्वयं ज्ञानस्वरूपत्वात्, 'यस्य ज्ञानमयं तपः'[1] इति वचनस्य प्रामाण्यात् तप ईश्वरः।

१. मुण्डको० १।१।९

यदविनाशि यस्य कदाचिद् विनाशो न भवेत् तत्सत्यम् ।[1] ब्रह्म व्यापकमिति बोध्यम् ।।

इतीश्वरनामभिर्मार्जनं कुर्य्यात् ।

अथ प्राणायाममन्त्राः—

ओं भूः । ओं भुवः । ओं स्वः । ओं महः । ओं जनः । ओं तपः । ओं सत्यम् ।। तैत्ति० प्रपा० १० । अनु० ७१ ।।

भाष्यम्—एतेषामुच्चारणार्थविचारपुरस्सरं[2] पूर्वोक्तप्रकारेण प्राणायामान् कुर्यात् ।।

भाषार्थ—अथेन्द्रियस्पर्शः—(ओं वाक् वागित्यादि) । इस प्रकार ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक इन्द्रियों का स्पर्श करे । इसका अभिप्राय यह यह है कि ईश्वर की प्रार्थना से सब इन्द्रिय बलवान् रहें ।

अब ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक **मार्जन के मन्त्र** लिखे जाते हैं—(ओं भूः पुनातु शिरसीत्यादि) । ओंकार, भूः, भुवः और स्वः इनके अर्थ गायत्री मन्त्र के अर्थ में देख लेना । (महः) सब से बड़ा और सबका पूज्य होने से परमेश्वर को मह कहते हैं । (जनः) सब जगत् के उत्पादक होने से परमेश्वर का जन नाम है । (तपः) दुष्टों को सन्तापकारी और ज्ञानस्वरूप होने से ईश्वर को तप कहते है, क्योंकि 'यस्येत्यादि' उपनिषत् का वाक्य इसमें प्रमाण है । (सत्यम्)अविनाशी होने से परमेश्वर का सत्य नाम है । और व्यापक होने से ब्रह्म नाम परमेश्वर का है । अर्थात् पूर्व मन्त्रोक्त सब नाम परमेश्वर ही के हैं ।

इस प्रकार ईश्वर के नामों के अर्थों का स्मरण करते हुए मार्जन करे ।

---

१. खम् । सं०

२. मानसिकोच्चारणमित्यर्थ । स०

अब **प्राणायाम के मन्त्र** लिखते हैं—(ओं भूरित्यादि) । इनके उच्चारण[1] और अर्थ विचारपूर्वक पूर्वोक्त प्रकार के अनुसार प्राणायामों को करे ।

अथाघमर्षणमन्त्राः—

अथेश्वरस्य जगदुत्पादनद्वारा स्तुत्याऽघर्षणमन्त्रा अर्थात् पापदूरीकरणार्थाः—

ओ३म् ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥३॥

ऋ० अ० ८ । अ० ८ । व० ४८ । मं० १-३ ॥

भाष्यम्—(धाता) दधाति सकलं जगत् पोषयति वा स धातेश्वरः, (वशी) वशं कर्तुं शीलमस्य स., (यथापूर्वम) यथा तस्य सर्वज्ञे विज्ञाने जगद्रचनज्ञानमासीत्, पूर्वकल्पसृष्टौ यथा रचनं कृतमासीत्तथैव जीवानां पुण्यपापानुसारतः प्राणिदेहानकल्पयत् । (सूर्याचन्द्रमसौ) यौ प्रत्यक्षविषयौ सूर्यचन्द्रलोकौ (दिवम्) सर्वोत्तमं स्वप्रकाशमन्याख्यम् (पृथिवीं) प्रत्यक्षविषयां[2] (अन्तरिक्षम्) अर्थाद् द्वयोर्लोकयोर्मध्यमाकाशं तत्रस्थाँल्लोकांश्च (स्वः) मध्यस्थं लोकम् (अकल्पयत्)

---

१. मानसिक उच्चारण । स०

२. भूमिम् । स०

यथापूर्वं रचितवान्। ईश्वरज्ञानस्यापरिणामित्वात् पूर्णत्वादनन्तत्वात्, सर्वदैकरसत्वाच्च नैव तस्य वृद्धिक्षयव्यभिचाराश्च कदाचिद् भवन्ति। अत एव 'तथापूर्वमकल्पयद्' इत्युक्तम्।

स एव वशीश्वरः (विश्वस्य मिषतः) सहजस्वभावेन[1] (अहोरात्राणि) रात्रेर्दिवसस्य च विभागं यथापूर्वं (विदधत्) विधानं कृतवान्। तस्य धातुर्वशिनः परमेश्वरस्यैव (अभीद्धात्) अभितः सर्वतः इद्धात् दीप्तात् ज्ञानमयात् (तपसः) अर्थादनन्तसामर्थ्यात् (ऋतम्) यथार्थं सर्वविद्याधिकरणं वेदशास्त्रं, (सत्यम्) त्रिगुणमयं प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं, स्थूलस्य सूक्ष्मस्य जगतः कारणं च (अध्यजायत) यथापूर्वमुत्पन्नम्।

(ततो रात्री) या तस्मादेव सामर्थ्यात् प्रलयानन्तर भवति सा रात्रिः, (अजायत) यथापूर्वमुत्पन्नासीत्। "**तम॑ आसी॒त्तम॑सा गू॒ळ्हमग्रे॑** ॥ ऋ० अ० ८। अ० ७। व० १७। मं० ३॥" अग्रे सृष्टेः प्राक् तमोऽन्धकार एवासीत् तेन तमसा सकलं जगदिमुत्पत्तेः प्राग् गूढ गुप्तमर्थादिदृश्यमासीत्।

(ततः समु०) तस्मादेव सामर्थ्यात् पृथिवीस्थोऽन्तरिक्षस्थश्च महान् समुद्रः अजायत, यथापूर्वमुत्पन्न आसीत्। (समुद्रादर्णवात्) पश्चात् (संवत्सरः) क्षणादिलक्षणः कालोऽध्यजायत। यावज्जगत् तावत् सर्वं परमेश्वरस्य सामर्थ्यादेवोत्पन्नमित्यवधार्य्यम्॥ १-३॥

एवमुक्तगुणं परमेश्वरं संस्मृत्य पापाद्भीत्वा ततो दूरे सर्वैर्जनैः स्थातव्यम्। नैव कदाचित् केनचित् स्वल्पमपि पापं कर्त्तव्यमितीश्वराज्ञास्तीति निश्चेतव्यम्। अनेनाघमर्षणं कुर्य्यादर्थात्पापानुष्ठानं सर्वथा परित्यजेत्।

भाषार्थ—अब अघमर्षण-अर्थात् हे ईश्वर! तू जगदुत्पादक है, इत्यादि स्तुति करके पाप से दूर रहने के उपदेश के मन्त्र लिखते हैं—(ओं ऋतञ्च सत्यमित्यादि)। इनका अर्थ यह है कि—

---

1. जगतः। सं०

(धाता) सब जगत् का धारण और पोषण करने वाला और (वशी) सब को वश करने वाला परमेश्वर, (यथापूर्वम्) जैसा कि उस के सर्वज्ञ विज्ञान में जगत् के रचने का ज्ञान था, और जिस प्रकार पूर्वकल्प की सृष्टि में जगत् की रचना थी, और जैसे जीवों के पुण्य पाप थे, उनके अनुसार ईश्वर ने मनुष्यादि प्राणियों के देह बनाये हैं। (सूर्याचन्द्रमसौ) जैसे पूर्व कल्प में सूर्य चन्द्र लोक रचे थे, वैसे ही इस कल्प में भी रचे हैं (दिवम्) जैसा पूर्व सृष्टि मे सूर्यादि लोकों का प्रकाश रचा था, वैसा ही इस कल्प में रचा है। तथा (पृथिवीम्) जैसी[1] प्रत्यक्ष दीखती है, (अन्तरिक्षम्) जैसा पृथिवी और सूर्य्यलोक के बीच में पोलापन है, (स्वः) जितने आकाश के बीच में लोक हैं, उनको (अकल्पयत्) ईश्वर ने रचा है। जैसे अनादिकाल से लोक लोकान्तर को जगदीश्वर बनाया करता है, वैसे ही अब भी बनाये हैं, और आगे भी बनावेगा, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान विपरीत कभी नहीं होता, किन्तु पूर्ण और अनन्त होने से सर्वदा एकरस ही रहता है, उस में वृद्धि, क्षय और उलटापन कभी नहीं होता। इसी कारण से 'यथापूर्वमकल्पयत्' इस पद का ग्रहण किया है।

(विश्वस्य मिषतः) उसी ईश्वर ने सहजस्वभाव से जगत् के रात्रि, दिवस, घटिका; पल और क्षण आदि को जैसे पूर्व थे वैसे ही (विदधत्) रचे हैं। इसमें कोई ऐसी शंका करे कि ईश्वर ने किस वस्तु से जगत् को रचा है? उसका उत्तर यह है कि (अभीद्धात् तपसः) ईश्वर ने अपने अनन्त सामर्थ्य से सब जगत् को रचा है। जो कि ईश्वर के प्रकाश से जगत् का कारण प्रकाशित और सब जगत् के बनाने की सामग्री ईश्वर के आधीन है। (ऋतम्) उसी अनन्त ज्ञानमय सामर्थ्य से सब विद्या का खजाना वेदशास्त्र को प्रकाशित

---

१. भूमि जो। सं०

किया, जैसा कि पूर्व सृष्टि मे प्रकाशित था। और आगे के कल्पों में भी इसी प्रकार से वेदों का प्रकाश करेगा। (सत्यम्) जो त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुण से युक्त है, जिसके नाम अव्यक्त, अव्याकृत, सत्, प्रधान [और] प्रकृति हैं, जो स्थूल और सूक्ष्म जगत् का कारण है, सो भी (अध्यजायत) अर्थात् कार्यरूप होके पूर्व कल्प के समान उत्पन्न हुआ है। (ततो रात्र्यजायत) उसी ईश्वर के सामर्थ्य से जो प्रलय के पीछे हजार चतुर्युगी के प्रमाण से रात्रि कहाती है, सो भी पूर्व प्रलय के तुल्य ही होती है। इसमें ऋग्वेद का प्रमाण है कि—"जब जब विद्यमान सृष्टि होती है, उसके पूर्व सब आकाश अन्धकाररूप रहता है, और उसी अन्धकार मे सब जगत् के पदार्थ और सब जीव ढके हुए रहते हैं, उसी का नाम महारात्रि है।" (ततः समुद्रो अर्णवः) तदनन्तर उसी सामर्थ्य से पृथिवी और मेघ[1] मण्डल में जो महासमुद्र है, सो पूर्व सृष्टि के सदृश ही उत्पन्न हुआ है।

(समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत) उसी समुद्र की उत्पत्ति के पश्चात् संवत्सर अर्थात क्षण, मुहूर्त्त, प्रहर आदि काल भी पूर्व सृष्टि के समान उत्पन्न हुआ है। वेद से लेके पृथिवी पर्यन्त जो यह जगत् है, सो सब ईश्वर के नित्य सामर्थ्य से ही प्रकाशित हुआ है। और ईश्वर सबको उत्पन्न करके, सब में व्यापक होके अन्तर्यामीरूप से सबके पाप पुण्यों को देखता हुआ, पक्षपात छोड़ के सत्य न्याय से सबको यथावत् फल दे रहा है॥ १-३ ॥

ऐसा निश्चित जान के ईश्वर से भय करके सब मनुष्यों को उचित है कि मन, कर्म और वचन से पापकर्मों को कभी न करें। इसी का नाम अघमर्षण है, अर्थात् ईश्वर सबके अन्तकरण के कर्मों को देख रहा है इससे पापकर्मों का आचरण मनुष्य लोग सर्वथा छोड़ देवें।

---

१. अन्तरिक्ष में। सं०।

'शन्नो देवी' रिति पुनराचामेत् । ततो गायत्र्यादिमन्त्रार्थान् मनसा विचारयेत् । पुनः परमेश्वरेणैव सूर्यादिकं सकलं जगद्रचितमिति परमार्थस्वरूपं ब्रह्म चिन्तयित्वा परं ब्रह्म प्रार्थयेत् ।

भावार्थ—'शन्नो देवीरिति' इस मन्त्र से [पुनः] **तीन आचमन** करे । तदनन्तर गायत्र्यादि मन्त्रों के अर्थ विचारपूर्वक **परमेश्वर की** स्तुति, अर्थात् परमेश्वर के गुण और उपकार का ध्यान कर, पश्चात् प्रार्थना करे । अर्थात् सब उत्तम कामों मे ईश्वर का सहाय चाहे, और सदा पश्चात्ताप करें कि मनुष्य शरीर धारण करके हम लोगों से जगत् का उपकार कुछ भी नही बनता । जैसा कि ईश्वर ने सब पदार्थों की उत्पत्ति करके सब जगत् का उपकार किया है, वैसे हम लोग भी सब उपकार करें । इस काम में परमेश्वर हमको सहाय करे कि जिससे हम लोग सबको सदा सुख देते रहें ।

तदनन्तर ईश्वर की उपासना करे, सो दो प्रकार की है—एक सगुण और दूसरी निर्गुण । जैसे ईश्वर सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, चेतन, व्यापक, अन्तर्यामी, सब का उत्पादक, धारण करनेहारा, मङ्गलमय, शुद्ध, सनातन, ज्ञान और आनन्दस्वरूप है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पदार्थों का देनेवाला, सब का पिता, माता, बन्धु, मित्र, राजा और न्यायाधीश है । इत्यादि ईश्वर के गुण विचारपूर्वक उपासना करने का नाम **सगुणोपासना** है ।

तथा निर्गुणोपासना इस प्रकार से करनी चाहिये कि ईश्वर अनादि, अनन्त है, जिसका आदि और अन्त नही । अजन्मा, अमृत्यु, जिसका जन्म और मरण नहीं । निराकार, निर्विकार जिसका आकार और जिसमें कोई विकार नहीं । जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, अन्याय, अधर्म, रोग, दोष, अज्ञान और मलीनता नहीं है । जिसका परिमाण, छेदन, बन्धन, इन्द्रियों से दर्शन, ग्रहण और कम्पन नही होता । जो ह्रस्व, दीर्घ और शोकातुर कभी नहीं होता ।

जिसको भूख, प्यास, शीतोष्ण, हर्ष और शोक कभी नहीं होते। जो उलटा काम कभी नहीं करता, इत्यादि को जगत् के गुणों से ईश्वर को अलग जान के ध्यान करना, वह **निर्गुणोपासना** कहाती है।

इस प्रकार प्राणायाम करके, अर्थात् भीतर के वायु को बल से नासिका के द्वारा बाहर फेंक के, यथाशक्ति बाहर ही रोक के पुनः धीरे-धीरे भीतर लेके, पुनः बल से बाहर फेंक के रोकने से मन और आत्मा को स्थिर करके, आत्मा के बीच में जो अन्तर्यामीरूप से ज्ञान और आनन्दस्वरूप व्यापक परमेश्वर है, उसमें अपने आप को मग्न करके, अत्यन्त आनन्दित होना चाहिये। जैसे गोताखोर जल में डुबकी मारके शुद्ध होके बाहर आता है, वैसे ही सब जीव लोग अपने आत्माओं को शुद्ध ज्ञान आनन्दस्वरूप व्यापक परमेश्वर में मग्न करके नित्य शुद्ध करें।

अथ मनसा परिक्रमा-मन्त्राः—

ओं प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान्[1] द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ १॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो

१. यहां यह तीन संख्या प्लुत की द्योतक नहीं। अतः 'ओं' को प्लुत स्वर से अर्थात् अधिक लम्बा करके नहीं बोलना चाहिये। ऐसे ही अगले पांच मन्त्रों में भी। सं०।

नमं एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ २ ॥

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ३ ॥

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नमं एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ४ ॥

ध्रुवा दिग्विष्णुराधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नमं एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ५ ॥

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नमं एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ६ ॥ अथर्व कां० ३ । अ० ६ । सू० २७ । मं० १-६ ।

भाष्यम्-- (प्राची दि०) सर्वासु दिक्षु व्यापकमीश्वरं संध्यायामग्न्यादिभिर्नामभिः प्रार्थयेत् । यत्र स्वस्य मुखं सा प्राची दिक् । तथा यस्यां सूर्य उदेति सापि प्राची दिगस्ति । तस्या अधिपतिरग्निरर्थात् ज्ञानस्वरूपः परमेश्वरः, (असितः) बन्धनरहितोऽस्माकं सदा रक्षिता भवतु । तस्यादित्याः प्राणाः किरणाश्चेषवो, यैः सर्वं जगद् रक्षति, तेभ्य इन्द्रियाभिपातिभ्यश्शरीररक्षितृभ्य इषुरूपेभ्यः प्राणेभ्यो वारंवारं नमोऽस्तु । कस्मै प्रयोजनाय ? यः कश्चिदस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तं (वः) तेषां प्राणानां (जम्भे) अर्थाद्वशे दध्मः । यतस्सोऽनर्थान्निवर्त्य स्वमित्रं भवेत् । वयं च तस्य मित्राणि भवेम ।। १ ।।

(दक्षिणा०) दक्षिणस्या दिश इन्द्रः परमैश्वर्य्ययुक्तः परमेश्वरोऽधिपतिरस्ति, स एव कृपयाऽस्माकं रक्षिता भवतु । अग्रे पूर्ववदन्वयः कर्त्तव्यः ।। २ ।।

तथा (प्रतीची दिग्०) अस्या वरुणः सर्वोत्तमोऽधिपतिः परमेश्वरोऽस्माकं रक्षिता भवेदिति पूर्ववत् ।। ३ ।।

(उदीची०) सोमः सर्वजगदुत्पादकोऽधिपतिरीश्वरोऽस्माकं रक्षिता स्यादिति [पूर्ववत्] ।। ४ ।।

(ध्रुवा दिक्) [ध्रुवा] अर्थादधो दिक्, अस्या विष्णुर्व्यापक ईश्वरोऽधिपतिः, सोऽस्यामस्मान् रक्षेत् । अन्यत् पूर्ववत् ।। ५ ।।

(ऊर्ध्वा दिक्०) अस्या बृहस्पतिरर्थाद् बृहत्या वाचो, बृहतो वेदशास्त्रस्य, बृहतामाकाशादीनां च पतिर्बृहस्पतिर्यः सर्वजगतोऽधिपतिः स सर्वतोऽस्मान् रक्षेत् । अग्रे पूर्ववद्योजनीयम् । सर्वे मनुष्याः सर्वशक्तिमन्तं सर्वगुरुं न्यायकारिणं दयालुं पितृवत्पालकं सर्वासु दिक्षु सर्वत्र रक्षकं परमेश्वरमेव मन्येरन्नित्यभिप्रायः ।। ६ ।।

भाषार्थ—(प्राची दिगग्निरधिपतिः) जो प्राची दिक् अर्थात् जिस ओर अपना मुख हो [तथा जिस ओर सूर्य उदय हो,] उस ओर अग्नि जो ज्ञानस्वरूप अधिपति, जो सब जगत् का स्वामी, (असित.) बन्धनरहित, (रक्षिता) सब प्रकार से रक्षा करने वाला, (आदित्या इषवः) जिसके बाण आदित्य की किरण है। उन सब गुणो के अधिपति ईश्वर के गुणों को हम लोग वारम्वार नमस्कार करते है। (रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु) जो ईश्वर के गुण और ईश्वर के रचे पदार्थ जगत् की रक्षा करनेवाले हैं, और पापियों को बाणों के समान पीडा देनेवाले हैं, उनको हमारा नमस्कार हो। इसलिए कि जो प्राणी अज्ञान से हमारा द्वेष करता है, और जिस अज्ञान से धार्मिक पुरुष का तथा पापी पुरुष का हम लोग द्वेष करते हैं, उन सब की बुराई को उन बाणरूप किरण मुखरूप के बीच मे दग्ध कर देते हैं कि जिससे किसी से हम लोग वैर न करें, और कोई भी प्राणी हम से वैर न करे, किन्तु हम सब लोग परस्पर मित्रभाव से वर्त्तें ॥ १ ॥

(दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिः) जो हमारे दाहिनी ओर दक्षिण दिशा है, उसका अधिपति इन्द्र अर्थात् जो पूर्ण ऐश्वर्यवाला है। (तिरश्चि-राजी रक्षिता) जो जीव कीट पतङ्ग वृश्चिक तिर्य्यक् कहाते है, उनकी राजी जो पंक्ति है, उनसे रक्षा करनेवाला एक परमेश्वर है। (पितर इषवः) जिसकी सृष्टि में ज्ञानी लोग बाण के समान है। (तेभ्यो नमो०) आगे का अर्थ पूर्व के समान जान लेना ॥ २ ॥

(प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः) जो पश्चिम दिशा अर्थात् अपने पृष्ठ भाग मे है, उसमे वरुण जो सबसे उत्तम सब का राजा परमेश्वर है, (पृदाकू रक्षितान्नमिषवः) जो बड़े-बड़े अजगर सर्पादि विषधारी प्राणियों से रक्षा करनेवाला है। जिसके अन्न अर्थात् पृथिव्यादि पदार्थ बाणों के समान है, [जो] श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों की ताड़ना के

निमित्त हैं। (तेभ्यो नमो०) इसका अर्थ पूर्व मन्त्र के समान जान लेना॥ ३॥

(उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः) जो अपनी बांई ओर उत्तर दिशा है, उसमें सोम नाम से अर्थात् शान्त्यादि गुणों से आनन्द करनेवाले जगदीश्वर का ध्यान करना चाहिये। (स्वजो रक्षिताऽशनिरिषवः) जो अच्छी प्रकार अजन्मा और रक्षा करनेवाला है। जिसके बाण विद्युत हैं। (तेभ्यो नमो०) आगे पूर्ववत् जान लेना॥ ४॥

(ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः) ध्रुव दिशा अर्थात् जो अपने नीचे की ओर है, उसमें विष्णु अर्थात् व्यापक नाम से परमात्मा का ध्यान करना। (कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः) जिसके हरित रङ्गवाले वृक्षादि ग्रीवा के समान हैं। जिसके बाण के समान सब वृक्ष है, उनसे अधोदिशा में हमारी रक्षा करे। (तेभ्यो नमो०) आगे पूर्ववत् जान लेना॥ ५॥

(उर्द्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः) जो अपने ऊपर दिशा है, उसमें बृहस्पति जो वाणी का स्वामी परमेश्वर है, उसको अपना रक्षक जानें। जिसके बाण के समान वर्षा के बिन्दु हैं, उनसे हमारी रक्षा करे। (तेभ्यो०) आगे पूर्ववत् जान लेना॥ ६॥

अथोपस्थानमन्त्राः—

ओम् उद् वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्य्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥१॥

य० अ० ३५। म० १४॥

भाष्यम्—हे परमात्मन्! (सूर्यम्) चराचरात्मानं त्वा, (पश्यन्तः) प्रेक्षमाणास्सन्तो वयम्, (उदगन्म) अर्थात् उत्कृष्टश्रद्धावन्तो भूत्वा वयं भवन्तं प्राप्नुयाम। कथंभूतं त्वा? (ज्योतिः) स्वप्रकाशम्

(उत्तमम्) सर्वोत्कृष्टम्, (देवत्रा) सर्वेषु दिव्यगुणवत्सु पदार्थेषु ह्यनन्त-दिव्यगुणैर्युक्तं, (देवम्) धर्मात्मनां मुमुक्षूणां युक्तानां च सर्वानन्दस्य दातारं मोदयितारं च, (उत्तरम्) जगत्प्रलयानन्तरं नित्यस्वरूपत्वाद् विराजमानं, (स्वः) सर्वानन्दस्वरूपं (तमसस्परि) अज्ञानान्धकारात् पृथग्भूतं भवन्तं प्राप्तुं वयं नित्यं प्रार्थयामहे। भवान् स्वकृपया सद्यः प्राप्नोतु न इति ॥ १ ॥

भाषार्थ—अब उपस्थान के मन्त्रों का अर्थ करते हैं जिनसे परमेश्वर की स्तुति और प्रार्थना की जाती है—

हे परमेश्वर ! (तमसस्परि स्वः) सब अन्धकार से अलग प्रकाशस्वरूप, (उत्तरम्) प्रलय के पीछे सदा वर्त्तमान (देवं देवत्रा) देवों में भी देव अर्थात् प्रकाश करनेवालों में प्रकाशक, (सूर्यम्) चराचर के आत्मा (ज्योतिरुत्तमम्) ज्ञानस्वरूप और सबसे उत्तम आप को जान के (वयम् उदगन्म) हम लोग सत्य से प्राप्त हुए है। हमारी रक्षा करनी आपके हाथ है, क्योंकि हम लोग आपके शरण हैं ॥ १ ॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥२॥ यजु० अ० ३३ । मं० ३१ ॥

भाष्यम्--(केतवः) किरणा विविधजगतः पृथक् पृथग्रचनादि-नियामका ज्ञापकाः प्रकाशका ईश्वरस्य गुणाः, (दृशे विश्वाय) विश्वं द्रष्टुं (त्यम्) तं पूर्वोक्तं (देवं सूर्यम्) चराचरात्मानं परमेश्वरम् (उद्वहन्ति) उत्कृष्टतया प्रापयन्ति ज्ञापयन्ति प्रकाशयन्ति वै। (उ) इति वितर्के, नैव पृथक् पृथक् विविधानि यमान् दृष्ट्वा नास्तिका अपीश्वरं त्यक्तुं समर्था भवन्तीत्यभिप्रायः। कथं भूतं देवम्? (जातवेदसम्) जाता ऋग्वेदादयश्चत्वारो वेदा सर्वज्ञानप्रदा यस्मात् तथा जातानि प्रकृत्यादीनि भूतान्यसंख्यातानि विन्दति, यद्वा जातं

सकलं जगद्वेत्ति जानाति यः स जातवेदाः, न जातवेदस सर्वे मनुष्या-स्तमेवैकं प्राप्तुमुपासितुमिच्छन्त्वित्यभिप्रायः ।।

भावार्थ--(उदु त्यं०) । (जातवेदस) जिससे ऋग्वेदादि चार वेद प्रसिद्ध हुए हैं, और जो प्रकृत्यादि सब भूतों में व्याप्त हो रहा है, जो सब जगत् का उत्पादक है, सो परमेश्वर जातवेदा नाम से प्रसिद्ध है। (देवम्) जो सब देवों का देव, और (सूर्यम्) सब जीवादि जगत् का प्रकाशक है (त्वम्) उस परमात्मा को (दृशे विश्वाय) विश्व-विद्या की प्राप्ति के लिये हम लोग उपासना करते है । (उद्वहन्ति केतवः) 'केतवः' अर्थात् वेद की श्रुति और जगत्के पृथक् पृथक् रचनादि नियामक गुण उसी परमेश्वर को जनाते और प्राप्त कराते है । उस विश्व के आत्मा अन्तर्यामी परमेश्वर ही की हम उपासना सदा करे, अन्य किसी की नही ।। २ ।।

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳसूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च
स्वाहा ।।३।।

य० अ० ७ । म० ४२ ।।

भाष्यम्—स एव देवः सूर्य्यः (जगतः) जङ्गमस्य (तस्थुषः) स्थावरस्य च (आत्मा) अतति नैरन्तर्य्येण सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा । तथा (आप्रा०) द्यौः पृथिवी अन्तरिक्षं चैतदादि सर्वं जगद् रचयित्वा आसमन्ताद् धारयन् सन् रक्षति । (चक्षुः) एष एवैतेषां प्रकाशकत्वाद् बाह्याभ्यन्तरयोश्चक्षुः प्रकाशको विज्ञानमयो विज्ञापकश्चास्ति । अत एव (मित्रस्य) सर्वेषु द्रोहरहितस्य मनुष्यस्य सूर्य्यलोकस्य प्राणस्य वा, (वरुणस्य) वरेषु श्रेष्ठेषु कर्मसु गुणेषु वर्त्तमानस्य च, (अग्नेः) शिल्प-विद्याहेतो रूपगुणदाहप्रकाशकस्य विद्युतो भ्राजमानस्यापि चक्षुः सर्वसत्योपदेष्टा प्रकाशकश्च । (देवानाम्) स दिव्यगुणवतां विदुषामेव

हृदये (उदगात्) उत्कृष्टतया प्राप्तोऽस्ति प्रकाशको वा। तदेव ब्रह्म (चित्रम्) अद्भुतस्वरूपम्। अत्र प्रमाणम्—"आश्चर्य्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्य्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥ कठोपनि० वल्ली २॥" आश्चर्य्यस्वरूपत्वाद् ब्रह्मणः। तदेव ब्रह्म सर्वेषां चास्माकं (अनीकम्) सर्वदुःखनाशार्थं कामक्रोधादिशत्रुविनाशार्थं बलमस्ति। तद्विहाय मनुष्याणां सर्वसुखकरं शरणमन्यन्नास्त्येवेति वेद्यम्।

(स्वाहा) अथात्र स्वाहाशब्दार्थे प्रमाणम् निरुक्तकारा आहुः—"स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत्सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा तासामेषा भवति॥ निरु० अ० ८। खं० २०॥" स्वाहाशब्दस्यायमर्थः—(सु आहेति वा) सु सुष्ठु कोमलं मधुरं कल्याणकरं प्रियं वचनं सर्वैर्मनुष्यैः सदा वक्तव्यम्। (स्वावागाहेति वा) या स्वकीया वाग् ज्ञानमध्ये वर्त्तते, सा यदाह तदेव वागिन्द्रियेण सर्वदा वाच्यम्। (स्वं प्राहेति वा) स्वं स्वकीयपदार्थं प्रत्येव स्वत्वं वाच्यम्, न परपदार्थंप्रति चेति। (स्वाहुतं ह०) सुष्ठुरीत्या संस्कृत्य संस्कृत्य हविः सदा होतव्यमिति स्वाहाशब्दपर्य्यायार्थाः। स्वमेव पदार्थं प्रत्याह वयं सर्वदा सत्यं वदेम इति, न कदाचित् परपदार्थं प्रति मिथ्या वदेमेति॥ ३॥

भावार्थ—(चित्रदेवाना०)। (सूर्य्य आत्मा०) प्राणी और जड़ जगत् का जो आत्मा है, उसको सूर्य कहते हैं। (आप्रा द्या०) जो सूर्य और अन्य सब लोकों को बनाके धारण और रक्षण करनेवाला है, (चक्षुर्मित्रस्य) जो मित्र अर्थात् रागद्वेषरहित मनुष्य तथा सूर्यलोक और प्राण का चक्षु प्रकाश करनेवाला है, (वरुणस्या०) सब उत्तम कामो मे जो वर्तमान मनुष्य प्राण अपान और अग्नि का प्रकाश करनेवाला है, (चित्रं देवानां) जो अद्भुतस्वरूप विद्वानो के हृदय में सदा प्रकाशित रहता है, (अनीकम्) जो सकल मनुष्यों के सब दुःख नाश करने के लिये परम उत्तम बल है, वह परमेश्वर (उदगात्) हमारे हृदयों में यथावत् प्रकाशित रहे॥ ३॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥४॥

य० अ० ३६ । मं० २४ ॥

भाष्यम्—(चक्षुः) यत् सर्वदृक् (देवहितम्) देवेभ्यो हितं दिव्यगुणवतां धर्मात्मनां विदुषां स्वसेवकानां च हितकारि वर्त्तते यत् (पुरस्तात्) सृष्टेः प्राक् (शुक्रम्) सर्वजगत्कर्तृ शुद्धमासीद्, इदानीमपि तादृशमेव चास्ति । तदेव (उच्चरत्) अर्थात् उत्कृष्टतया सर्वत्र व्याप्त विज्ञानस्वरूपं (उद्) प्रलयादूर्ध्वं सर्वसामर्थ्यं स्थास्यति । (तत्) ब्रह्म (पश्येम शरदः शतम्) वयं शतं वर्षाणि तस्यैव प्रेक्षणं कुर्महे । तत्कृपया (जीवेम शरदः शतम्) शतं वर्षाणि प्राणान् धारयेमहि । (शृणुयाम शरदः शतम्) तस्य गुणेषु श्रद्धाविश्वासवन्तो वयं तमेव शृणुयाम । तथा च तद् ब्रह्म तद्गुणांश्च (प्रब्रवाम श०) अन्येभ्यो मनुष्येभ्यो नित्यमुपदिशेम । (अदीनाः स्याम श०) एवं च तदुपासनेन, तद्विश्वासेन, तत्कृपया च शतवर्षपर्यन्तमदीना स्याम भवेम । मा कदाचित्कस्यापि समीपे दीनता कर्त्तव्या भवेन्नो दारिद्र्यं च । सर्वदा सर्वथा ब्रह्मकृपया स्वतन्त्रा वयं भवेम । तथा (भूयश्च श०) वयं तस्यैवानुग्रहेण भूयः शताच्छरदः शताद्वर्षेभ्योऽप्यधिकं पश्येम; जीवेम, शृणुयाम, प्रब्रवाम, अदीनाः स्याम चेत्यन्वयः ।

अर्थान्नैव मनुष्यास्तमतिकृपालुं परमेश्वरं त्यक्त्वाऽन्यमुपासीरन् याचेरन्नित्यभिप्रायः । 'योऽन्यां देवतामुपास्ते पशुरेवꣳ स देवानाम् ॥ श० कां० १४ । अ० ४ । २ । २२ ॥" सर्वे मनुष्याः परमेश्वरमेवोपासीरन् । यस्तस्मादन्यस्योपासनां करोति, स इन्द्रियारामो गर्दभवत्सर्वैर्शिष्टैर्विज्ञेयं इति निश्चयः ॥ ४ ॥

कृताञ्जलिरत्यन्तश्रद्धालुर्भूत्वैतैर्मन्त्रैः[1] स्तुवन्[2] सर्वकालसिद्ध्यर्थं परमेश्वरं प्रार्थयेत् ।[3]

भावार्थ—(तच्चक्षुर्देवहितम्) जो ब्रह्म सब का द्रष्टा, धार्मिक विद्वानों का परम हितकारक, तथा (पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्) सृष्टि के पूर्व, पश्चात् और मध्य में सत्यस्वरूप से वर्त्तमान रहता, और सब जगत् का करनेवाला है। (पश्येम शरदः शतम्) उसी ब्रह्म को हम लोग सौ वर्ष पर्यन्त देखें (जीवेम शरदः शतम्) जीवें, (शृणुयाम शरदः शतम्) सुनें (प्रब्रवाम शरदः०) उसी ब्रह्म का उपदेश करें, (अदीनाः स्याम०) और उस की कृपा से किसी के आधीन न रहें। (भूयश्च शरदः शतात्) उसी परमेश्वर की आज्ञापालन और कृपा से सौ वर्षों से उपरान्त भी हम लोग देखें, जीवें, सुनें, सुनावें और स्वतन्त्र रहें।

अर्थात् आरोग्य शरीर, दृढ़ इन्द्रिय, शुद्ध मन और आनन्द सहित हमारा आत्मा सदा रहे। यही एक परमेश्वर सब मनुष्यों का उपास्य-देव है। 'जो मनुष्य इसको छोड़ के दूसरे की उपासना करता वह पशु के समान होके सब दिन दुःख भोगता रहता है, है' ।। ४ ।।

इसलिये प्रेम में अत्यन्त मग्न होके, अपने आत्मा और मन को परमेश्वर में जोड़ के, इन मन्त्रों से स्तुति और प्रार्थना सदा करते रहें।

अथ गुरुमन्त्रः —

ओ३म्, (य० अ० ४० । मं० १७) **भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।।**

१, २, ३, आर्यभाषार्थानुसारेण बहुवचनेन भाष्यम् । तच्चेत्थम्—श्रद्धालवो, स्तुवन्तः, प्रार्थयत । सं० ।

य० अ० ३६ । मं० ३ ।। ऋ० मं० ३ । सू० ६२ । मं० १० ।।

एवं त्रिषु वेदेषु समानो मन्त्रः ।।

भाष्यम्—अस्य सर्वोत्कृष्टस्य गायत्रीमन्त्रस्य संक्षेपेणार्थ उच्यते—'अ उ म्' एतत्त्रयं मिलित्वा 'ओम्' इत्यक्षरं भवति । यथाह मनुः—

"अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च ।।"
मनु० अ० २ । श्लोक० ७६ ।।

एतच्च सर्वोत्तमं प्रसिद्धतमं परब्रह्मणो नामास्ति । एतेनैकेनैव नाम्ना परमेश्वरस्यानेकानि नामान्यागच्छन्तीति वेद्यम् । तद्यथा—

अकारेण विराडग्निविश्वादीनि—(विराट्) विविधं चराचरं जगद् राजयते प्रकाशयते स विराट् सर्वात्मेश्वरः । (अग्निः) अच्यते प्राप्यते सत्क्रियते वा वेदादिभिः शास्त्रैर्विद्वद्भिश्चेत्यग्निः परमेश्वरः । (विश्वः) विष्टानि सर्वाण्याकाशादीनि भूतानि यस्मिन् स विश्वः । यद्वा विष्टोस्ति प्रकृत्यादिषु यः स विश्वः । एतदाद्यर्था अकारेण विज्ञेयाः ।

उकारेण हिरण्यगर्भवायुतैजसादीनि । तद्यथा—(हिरण्यगर्भः) हिरण्यानि सूर्य्यादीनि तेजांसि गर्भे यस्य, तथा सूर्य्यादीनां तेजसां को गर्भोऽधिष्ठानं स हिरण्यगर्भः । अत्र प्रमाणम्—'ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरेषोऽमृतꣳ हिरण्यम् ।। श० कां० ६ । अ० ७ । ब्रा० १ कं० २ ।।' 'यशो वै हिरण्यम् ।। ऐ० पं० ७ । खं० १८ ।।' (वायुः) यो वाति जानाति धारयत्यनन्तबलत्वात् सर्वं जगत् स वायुः । स चेश्वर एव भवितुमर्हति नान्यः । 'तद्वायुः'[1] इति मन्त्रवर्णादर्थाद् ब्रह्मणो वायुसंज्ञास्ति । (तैजसः) सूर्य्यादीनां प्रकाशकत्वात्स्वयंप्रकाशत्वात् तैजस ईश्वरः । एतदाद्यर्था उकाराद् विज्ञातव्याः ।

---

१. यजुः ३२ । १ ।।

मकारेणेश्वरादित्यप्राज्ञादीनि नामानि बोध्यानि । तद्यथा— (ईश्वरः) ईष्टेऽसौ सर्वशक्तिमान् न्यायकारीश्वरः । (आदित्यः) अविनाशित्वादादित्यः परमात्मा । (प्राज्ञः) प्रजानाति सकलं जगदिति प्रज्ञः, प्रज्ञ एव प्राज्ञश्च परमात्मैवेति । एतदाद्यर्था मकारेण निश्चेतव्या ध्येयाश्चेति ।

अथ महाव्याहृत्यर्थाः संक्षेपतः—"भूरिति वै प्राणः । भुवरित्यपानः । स्वरिति व्यानः ।। इति तैत्तिरीयोपनिषद्वचनम् । प्रपा० ७ । अनु० ६ ।।" (भूः) प्राणयति जीवयति सर्वान् प्राणिनः स प्राणः, प्राणादपि प्रियस्वरूपो वा, स चेश्वर एव । अयमर्थो भूशब्दस्य ज्ञेयः । (भुवः) यो मुमुक्षूणां मुक्तानां स्वसेवकानां धर्मात्मनां सर्वं दुःखमपानयति दूरीकरोति सोऽपानो दयालुरीश्वरोऽस्ति । अयं भुवःशब्दार्थोऽस्तीति बोध्यम् । (स्वः) यदभिव्याप्य व्यानयति चेष्टयति प्राणादि सकलं जगत् स व्यानः, सर्वाधिष्ठानं बृहद् ब्रह्मेति । खल्वयं स्वःशब्दार्थोऽस्तीति मन्तव्यम् । एतदाद्यर्था महाव्याहृतीनां ज्ञातव्याः ।

(सवितुः) सुनोति सूयते सुवति वोत्पादयति सृजति सकलं जगत् स सर्वपिता सर्वेश्वरः सविता परमात्मा तस्यः 'सवितुः प्रसवे'[1] इति मन्त्रपदार्थादुत्पत्तेः कर्त्ता योऽर्थोस्ति स सवितेत्युच्यत इति मन्तव्यम् । (वरेण्यम्) यद्वरं वर्त्तुमर्हमतिश्रेष्ठं तद्वरेण्यम् (भर्गः) यन्निरुपद्रवं निष्पापं निर्गुणं शुद्धं सकलदोषरहितं पक्वं परमार्थविज्ञानस्वरूपं तद्भर्गः । (देवस्य) यो दीव्यति प्रकाशयति खल्वानन्दयति सर्वं विश्वं स देवः, तस्य देवस्य (धीमहि) तमेव परमात्मानं वयं नित्यमुपासीमहि । कस्मै प्रयोजनाय ? तस्य धारणेन विज्ञानादिबलेनैव वयं पुष्टा दृढा सुखिनश्च भवेमेत्यस्मै प्रयोजनाय । तथा च (यः) परमेश्वरः (नः) अस्माकं (धियो) धारणवतीर्बुद्धीः (प्रचोदयात्) प्रेरयेत् ।

---

१. यजुः १ । १० ।।

हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप, हे नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, हे अज, हे निराकार, सर्वशक्तिमन्, न्यायकारिन्, हे करुणामृतवारिधे ! सवितुर्देवस्य तव यद्वरेण्यं भर्गस्तद्वयं धीमहि। कस्मै प्रयोजनाय ? यः सविता देवः परमेश्वरः स, नोऽस्माकं धियो बुद्धीः प्रचोदयात् । यो हि सम्यग्ध्यातः प्रार्थितः सर्वेष्टदेवः परमेश्वरः स्वकृपाकटाक्षेण स्वशक्त्या च ब्रह्मचर्यविद्याविज्ञानसद्धर्मजितेन्द्रियत्वपरब्रह्मानन्दप्राप्तिमतीरस्माकं धीः कुर्य्यादस्मै प्रयोजनाय । तत्परमात्मस्वरूपं वयं धीमहीति संक्षेपतो गायत्र्यर्थो विज्ञेयः ।।

एवं प्रातः सायं द्वयोः सन्ध्योरेकान्तदेशं गत्वा शान्तो भूत्वा यतात्मा सन् परमेश्वरं प्रतिदिनं ध्यायेत् ।

भाषार्थ—अथ गुरुमन्त्रः—(ओम् भूर्भुवः स्वः) । अकार उकार और मकार के योग से 'ओम्' यह अक्षर सिद्ध है, सो यह परमेश्वर के सब नामों में उत्तम नाम है, जिसमें सब नामों के अर्थ आ जाते हैं । जैसा पिता पुत्र का प्रेम सम्बन्ध है, वैसे ही ओंकार के साथ परमात्मा का सम्बन्ध है । इस एक नाम से ईश्वर के सब नामों का बोध होता है ।

जैसे अकार से—(विराट्) जो विविध जगत् का प्रकाश करनेवाला है । (अग्निः) जो ज्ञानस्वरूप और सर्वत्र प्राप्त हो रहा है । (विश्वः) जिसमें सब जगत् प्रवेश कर रहा है, और जो सर्वत्र प्रविष्ट है । इत्यादि नामार्थ अकार से जानना चाहिये ।

उकार से—(हिरण्यगर्भः) जिनके गर्भ में प्रकाश करनेवाले सूर्य्यादि लोक हैं, और जो प्रकाश करनेहारे सूर्य्यादिलोकों का अधिष्ठान है । इससे ईश्वर को 'हिरण्यगर्भ' कहते हैं । हिरण्य के नाम ज्योति, अमृत और कीर्त्ति हैं । (वायुः) जो अनन्त बलवाला सब

जगत् का धारण करनेहारा है। (तैजसः) जो प्रकाशस्वरूप और सब जगत् का प्रकाशक है। इत्यादि अर्थ उकारमात्र से जानना चाहिये।

तथा मकार से—(ईश्वरः) जो सब जगत् का उत्पादक, सर्व-शक्तिमान् स्वामी और न्यायकारी है। (आदित्यः) जो नाशरहित है। (प्राज्ञः) जो ज्ञानस्वरूप और सर्वज्ञ है। इत्यादि अर्थ मकार से समझ लेना। यह संक्षेप से ओंकार का अर्थ किया गया।

अब संक्षेप से महाव्याहृतियों का अर्थ लिखते हैं—(भूरिति वै प्राणः) जो सब जगत् के जीने का हेतु, और प्राण से भी प्रिय है, इससे परमेश्वर का नाम 'भूः' है। (भुवरित्यपानः) जो मुक्ति की इच्छा करने वालों, मुक्तों और अपने सेवक धर्मात्माओं को, सब दुःखों से अलग करके सर्वदा सुख मे रखता है, इसलिए परमेश्वर का नाम 'भुवः' है। (स्वरिति व्यानः) जो सब जगत् में व्यापक होके सब को नियम में रखता, और सब का ठहरने का स्थान तथा सुखस्वरूप है, इससे परमेश्वर का नाम 'स्वः' है। यह व्याहृतियों का संक्षेप से अर्थ लिख दिया।

अब गायत्री मन्त्र का अर्थ लिखते हैं—(सवितुः) जो सब जगत् का उत्पन्न करनेहारा, और ऐश्वर्य्य का देनेवाला है, (देवस्य) जो सब के आत्माओं का प्रकाश करनेवाला और सब सुखों का दाता है, उसका (वरेण्यम्) जो अत्यन्त ग्रहण करने के योग्य, (भर्गः) शुद्ध विज्ञान स्वरूप है, (तत्) उसको (धीमहि) हम लोग सदा प्रेमभक्ति से निश्चय करके अपने आत्मा में धारण करें। किस प्रयोजन के लिये? कि (यः) जो पूर्वोक्त सविता देव परमेश्वर है, वह (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) कृपा करके सब बुरे कामों से अलग करके सदा उत्तम कामों में प्रवृत्त करे।

इसलिये सब लोगों को चाहिये कि सत् चित् आनन्दस्वरूप, नित्यज्ञानी, नित्यमुक्त, अजन्मा, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी,

व्यापक, कृपालु, सब जगत् के जनक और धारण करनेहारे परमेश्वर ही की सदा उपासना करें, कि जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जो मनुष्यदेह रूप वृक्ष के चार फल हैं, वे उसकी भक्ति और कृपा से सर्वथा सब मनुष्यों को प्राप्त हों। यह गायत्री मन्त्र का अर्थ संक्षेप से हो चुका ।।

अथ समर्पणम्—

हे ईश्वर दयानिधे ! भवत्कृपयाऽनेन जपोपासनादिकर्मणा धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः ।।

तत ईश्वरं नमस्कुर्यात्—

भावार्थ—इस प्रकार से सब मन्त्रों के अर्थों से परमेश्वर की सम्यक् उपासना करके आगे समर्पण करे—कि हे ईश्वर दयानिधे ! आपकी कृपा से जो जो उत्तम काम हम लोग करते हैं, वे सब आपके अर्पण हैं। जिससे हम लोग आपको प्राप्त होके धर्म—जो सत्य न्याय का आचरण करना है, अर्थ—जो धर्म से पदार्थों की प्राप्ति करना है, काम—जो धर्म और अर्थ से इष्ट भोगों का सेवन करना है, और मोक्ष—जो सब दु:खों से छूटकर सदा आनन्द में रहना है, इन चार पदार्थों की सिद्धि हमको शीघ्र प्राप्त हो ।।

इसके पीछे ईश्वर को नमस्कार करे—

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ।।

य० अ० १६। मं० ४१ ।।

भाष्यम्—(नमः शम्भवाय च) यः सुखस्वरूपः परमेश्वरोऽस्ति, तं वयं नमस्कुर्महे। (मयोभवाय च) यः संसारे सर्वोत्तमसौख्य-

प्रदातास्ति, तं वयं नमस्कुर्महे। (नमः शङ्कराय च) यः कल्याण-कारकः सन् धर्मयुक्तानि कार्य्याण्येव करोति, तं वयं नमस्कुर्महे। (मयस्कराय च) यः स्वभक्तान् सुखकारकत्वाद् धर्मकार्य्येषु युनक्ति, तं वयं नमस्कुर्महे। (नमः शिवाय च शिवतराय च) योऽत्यन्तमङ्गल-स्वरूपः सन् धार्मिकमनुष्येभ्यो मोक्षसुखप्रदातास्ति, तस्मै परमेश्वरा-यास्माकमनेकधा नमोऽस्तु॥

भावार्थ—(नमः शम्भवाय च) जो सुखस्वरूप, (मयोभवाय च) संसार के उत्तम सुखों का देनेवाला, (नमः शङ्कराय च) कल्याण का कर्त्ता, मोक्षस्वरूप, धर्मयुक्त कामों को ही करने वाला, (मयस्कराय च) अपने भक्तों को सुख देने वाला और धर्म्म कामों में युक्त करने वाला, (नमः शिवाय च शिवतराय च) अत्यन्त मङ्गलस्वरूप और धार्मिक मनुष्यों को मोक्ष सुख देनेहारा है, उसको हमारा बारम्बार नमस्कार हो॥

इति सन्ध्योपासनविधिः

अथाग्निहोत्रसन्ध्योपासनयोः प्रमाणानि—

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥१॥
प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम ॥२॥

अथर्व० कां० १९ । सू० ५५ । मं० ३, ४ ॥

तस्माद् ब्राह्मणोऽहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपास्ते । स ज्योतिष्या ज्योतिषो दर्शनात् सोऽस्याः, कालः, सा सन्ध्या । तत् सन्ध्यायाः सन्ध्यात्वम् ॥ ३ ॥

षड्विंश ब्रा० प्रपा० ४ । खं० ५ ॥

उद्यन्तमस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते ॥ ४ ॥

तैत्तिरीय आ० २ । प्रपा० २ । अनु० २ ॥

[पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ ५ ॥]
न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥ ६ ॥

मनु० अ० २ । श्लो० [१०१,] १०३ ॥

भाष्यम्—अयं (नः) अस्माकं (गृहपतिः०) गृहात्मपालकोऽग्निः भौतिकः परमेश्वरश्च (प्रातः-प्रातः) तथा (सायं-सायं) च परिचरितस्सूपासितः सन् (सौमनसस्य दाता) आरोग्यस्यानन्दस्य च दाता भवति । तथा (वसोर्व०) उत्तमोत्तमपदार्थस्य च । अत एव परमेश्वरः (वसुदानः) वसुप्रदातास्ति । हे परमेश्वर ! एवंभूतस्त्वमस्माकं

राज्यादिव्यवहारे हृदये च (एधि) प्राप्तो भव। तथा भौतिकोऽप्यग्निरत्र ग्राह्यः। (वयं) हे परमेश्वर! एवं (त्वा) त्वाम् (इन्धानाः) प्रकाशयितारस्सन्तो वय (तन्वम्) शरीरं (पुषेम) पुष्टं कुर्य्याम। तथाग्निहोत्रादिकर्मणा भौतिकमग्निमिन्धानाः प्रदीपयितारः सन्तः सर्वे वयं पुष्येम ॥ १ ॥

(प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो०) अस्यार्थः पूर्ववद्विज्ञेयः। परन्त्वयं विशेषः-वयमग्निहोत्रमीश्वरोपासनं च कुर्वन्त. सन्तः (शतहिमाः) शतं हिमा हेमन्तर्तवो गच्छन्ति येषु संवत्सरेषु ते शतहिमा यावत्स्युस्तावत् (ऋधेम) वर्द्धेमहि। एवं कृतेन कर्म्मणा नोऽस्माकं नैव कदाचिद्धानिर्भवेदितीच्छामः ॥ २ ॥

भावार्थ—(सायंसायं०) यह हमारा गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक भौतिक अग्नि और परमेश्वर प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त होके (सौमनसस्य दाता) जैसे आरोग्य और आनन्द का देने वाला है उसी प्रकार उत्तम से उत्तम वस्तु का देने वाला है। इसी से परमेश्वर (वसुदानः) वसु अर्थात् धन का देने वाला प्रसिद्ध है। हे परमेश्वर! इस प्रकार आप मेरे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में प्रकाशित रहिये। तथा इस मन्त्र में अग्निहोत्र आदि करने के लिये भौतिक अग्नि भी ग्रहण करने योग्य है। (वयं त्वे०) हे परमेश्वर! पूर्वोक्त प्रकार से हम आपको प्रकाश करते हुए अपने शरीर को (पुषेम) पुष्ट करें। इसी प्रकार भौतिक अग्नि को प्रज्ज्वलित करते हुए सब ससार की पुष्टि करके पुष्ट हों ॥ १ ॥

(प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो०) इस मन्त्र का अर्थ पूर्व मन्त्र के तुल्य जानो। परन्तु यह विशेष है कि—अग्निहोत्र और ईश्वर की उपासना करते हुए हम लोग (शतहिमाः) सौ हेमन्त ऋतु बीत जायं जिन वर्षों में, अर्थात् सौ वर्ष पर्यन्त (ऋधेम) धनादि पदार्थों से वृद्धि को प्राप्त होते रहें। और पूर्वोक्त प्रकार से अग्निहोत्रादि कर्म करके हमारी

हानि कभी न हो, ऐसी इच्छा करते हैं ।। २ ।।

(तस्माद् ब्राह्मणो०) ब्रह्म का उपासक मनुष्य रात्रि और दिवस के सन्धि समय में नित्य उपासना करे। जो प्रकाश और अप्रकाश का संयोग है, वही सन्ध्या का काल जानना। और उस समय में जो सन्ध्योपासन की ध्यानक्रिया करनी होती है, वह सन्ध्या है। और जो एक ईश्वर को छोड़ के दूसरे की उपासना न करनी तथा सन्ध्योपासन कभी न छोड़ देना, इसी को सन्ध्योपासना कहते है ।।३।।

(उद्यन्तमस्तं यन्त) जब सूर्य्य के उदय और अस्त का समय आवे, उसमें नित्य प्रकाशस्वरूप आदित्य परमेश्वर की उपासना करता हुआ, ब्रह्मोपासक ही मनुष्य सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है। इससे सब मनुष्यों को उचित है कि दो समय में परमेश्वर की नित्य उपासना किया करें ।।४।।

इसमें मनुस्मृति का भी साक्षी है कि दो घड़ी रात्रि से लेके सूर्य्योदय पर्य्यन्त प्रातःसन्ध्या, और सूर्य्यास्त से लेकर तारों के दर्शन पर्य्यन्त सायंकाल में सविता अर्थात् सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले परमेश्वर की उपासना गायत्र्यादि मन्त्र के अर्थ विचारपूर्वक नित्य करें ।।५।।

(न तिष्ठति तु०) जो मनुष्य नित्य प्रातः और सायं सन्ध्योपासन को नहीं करता, उसको शूद्र के समान समझ कर द्विजकुल से अलग करके शूद्रकुल में रख देना चाहिये। वह सेवा कर्म किया करे, और उसके विद्या का चिह्न यज्ञोपवीत भी न रहना चाहिये। इससे सब मनुष्यों को उचित है कि सब कामों से इस काम को मुख्य जानकर पूर्वोक्त दो समयों में जगदीश्वर की उपासना नित्य करते रहें ।।६।।

इत्यग्निहोत्रसन्ध्योपासनप्रमाणानि ।।

अथ द्वितीयोऽग्निहोत्रो देवयज्ञः प्रोच्यते

उसका आचरण इस प्रकार से करना चाहिये कि सन्ध्योपासन करने के पश्चात् अग्निहोत्र का समय है। उसके लिये सोना, चांदी, तांबा, लोहा वा मिट्टी का कुण्ड बनवा लेना चाहिये। जिसका परिमाण सोलह अंगुल चौड़ा, सोलह अंगुल गहिरा और उसका तला चार अंगुल का लम्बा चौड़ा रहे। एक चमसा जिसकी डंडी सोलह अंगुल और उसके अग्रभाग में अंगूठा की यवरेखा के प्रमाण से लम्बा चौड़ा आचमनी के समान बनवा लेवे, सो भी सोना, चांदी वा पलाशादि लकड़ी का हो। एक आज्यस्थाली अर्थात् घृतादि सामग्री रखने का पात्र सोना, चांदी वा पूर्वोक्त लकड़ी का बनवा लेवे। एक जल का पात्र तथा एक चिमटा और पलाशादि की लकड़ी समिधा के लि रख लेवे।

पुनः घृत को गर्म कर छान लेवे। और एक सेर घी में एक रत्ती कस्तूरी, एक मासा केसर पीसके मिलाकर उक्त पात्र के तुल्य दूसरे पात्र में रख छोड़े। जब अग्निहोत्र करे तब शुद्ध स्थान में बैठ के पूर्वोक्त सामग्री पास रख लेवे। जल के पात्र में जल और घी के पात्र में एक छटांक वा अधिक जितना सामर्थ्य हो, उतने शोधे हुए घी को निकाल कर अग्नि में तपा के सामने रख लेवे। तथा चमसे को भी रख लेवे। पुनः उन्हीं पलाशादि वा चन्दनादि लकड़ियों को वेदी में रखकर, उनमें आगी धरके पंखे से प्रदीप्त कर नीचे लिखे मन्त्रों में से एक एक मन्त्र से एक एक आहुति देता जाय, प्रातःकाल वा सायंकाल में। अथवा एक समय में करे, तो सब मन्त्रों से सब आहुति किया करे।

अथाग्निहोत्रहोमकरणार्थाः मन्त्राः—

ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥१॥

ओं सूर्यो वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा ॥२॥

ओं ज्योतिः सूर्य्यः सूर्य्योज्योतिः स्वाहा ॥३॥

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या ।

जुषाणः सूर्य्यो वेतु स्वाहा ॥४॥

एते चत्वारो मन्त्राः प्रातःकालस्य सन्तीति बोध्यम् ।

ओमग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥१॥

ओमग्निर्वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा ॥२॥

'अग्निर्ज्योतिः'० ॥३॥ इति मन्त्रं मनसोच्चार्य्य तृतीयाहुतिर्देया ।

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या ।

जुषाणोऽअग्निर्वेतु स्वाहा ॥४॥ य० अ० ३ । मं० ६, १० ॥

एते सायंकालस्य मन्त्राः सन्तीति वेदितव्यम् ।

अथोभयोः कालयोरग्निहोत्रे होमकरणार्थास्समाना मन्त्राः—

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥ १ ॥

ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा ॥ २ ॥

ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥ ३ ॥

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥

ओम् आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥ ५ ॥

ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा ॥ ६ ॥

भाष्यम्—(सूर्य्यो०) यश्चराचरात्मा ज्योतिषां प्रकाशकानामपि

ज्योतिः प्रकाशकःसर्वप्राणः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै स्वाहाऽर्थात् तदाज्ञापालनार्थं सर्वजगदुपकारायैकाहुतिं दद्मः ।। १ ।।

(सूर्य्यो व०) यो वर्च्चः सर्वविद् यो ज्योतिषां ज्ञानवतां जीवानामपि वर्च्चोऽन्तर्यामितया सत्योपदेष्टा, सर्वात्मा सूर्य्यः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै० ।। २ ।।

(ज्योतिः सूर्य्यः०) यः स्वयंप्रकाशः, सर्वजगत्प्रकाशकः सूर्यो जगदीश्वरोऽस्ति तस्मै० ।। ३ ।।

(सजू०) यो देवेन द्योतकेन सवित्रा सूर्य्यलोकेन जीवेन च सह, तथा (इन्द्रवत्या) सूर्य्यप्रकाशवत्योषसाथवा जीववत्या मानसवृत्त्या (सजूः) सह वर्त्तमानः परमेश्वरोऽस्ति, सः (जुषाणः) संप्रीत्या वर्त्तमानः सन् (सूर्य्यः) सर्वात्मा कृपाकटाक्षेणास्मान् (वेतु) विद्यादि-सद्गुणेषु जात विज्ञानान् करोतु, तस्मै० ।। ४ ।।

इमाश्चतस्र आहुतीः प्रातरग्निहोत्रे कुर्वन्तु ।

अथ सायंकालाहुतयः—(अग्नि०) योऽग्निर्ज्ञानस्वरूपो ज्ञानप्रदश्च, ज्योतिषां ज्योतिः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै० ।। १ ।।

(अग्निर्वर्च्चो०) यः पूर्वोक्तोऽग्निरनन्तविद्य, आत्मप्रकाशकः, सर्वपदार्थप्रकाशकश्च सूर्यादिद्योतकोऽस्ति, तस्मै० ।। २ ।।

(अग्निर्ज्योतिः) इत्येनेनैव तृतीयाहुतिर्देया तदर्थश्च पूर्ववत् ।।३।।

(सजूर्दे०) यः पूर्वोक्तेन देवेन सवित्रा सह परमेश्वरःसजूरस्ति । यश्चेन्द्रवत्या वायुश्चन्द्रवत्या राञ्या सह सजूर्वर्त्तते, सोऽग्निः(जुषाणः) संप्रीतोऽस्मान् (वेतु) नित्यानन्दमोक्षसुखया स्वकृपया कामयतु । तस्मै जगदीश्वराय स्वाहेति पूर्ववत् ।। ४ ।।

एताभिः सायंकालेऽग्निहोत्रिणो जुह्वति । एकस्मिन् काले सर्वाभिर्वा ।

(ओं भूर०) एतानि सर्वाणीश्वरनामान्येव वेद्यानि। एतेषामर्था गायत्र्यर्थे द्रष्टव्याः ॥ १—५ ॥

(सर्वं वै०) हे जगदीश्वर ! यदिदमस्माभिः परोपकारार्थं कर्म क्रियते, भवत्कृपया परोपकारायालं भवत्विति। एतदर्थमेतत्कर्म्म तुभ्यं समर्प्यते ॥ ६ ॥

एवं प्रातःसायं सन्ध्योपासनकरणानन्तरमेतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वाऽग्रे यावदिच्छा तावद्गायत्रीमन्त्रेण स्वाहान्तेन होमं कुर्यात्।

अग्नये परमेश्वराय जलवायुशुद्धिकरणाय च होत्रं हवनं यस्मिन् कर्मणि क्रियते 'तदग्निहोत्रम्'। सुगन्धिपुष्टिमिष्टबुद्धिवृद्धिशौर्य्यधैर्य्य-बलकरैरोगनाशकरैर्गुणैर्युक्तानां द्रव्याणां होमकरणेन वायुवृष्टिजलयोः शुद्धया पृथिवीस्थपदार्थानां सर्वेषां शुद्धवायुजलयोगादत्यन्तोत्तमतया सर्वेषां जीवानां परमसुखं भवत्येव। अतस्तत्कर्मकर्तॄणां जनानां तदुपकार-तयाऽत्यन्तसुखलाभो भवतीश्वरप्रसन्नता चेत्येतदाद्यर्थमग्निहोत्र-करणम्।

भावार्थ—(सूर्य्यो ज्यो०) जो चराचर का आत्मा प्रकाशस्वरूप और सूर्यादिप्रकाशक लोकों का भी प्रकाशक है, उसकी प्रसन्नता के लिये हम लोग होम करते हैं ॥ १ ॥

(सूर्यो व०)जो सूर्य परमेश्वर हम को सब विद्याओं का देनेवाला, और हम लोगों से उनका प्रचार कराने वाला है, उसी के अनुग्रह के लिये हम लोग अग्निहोत्र करते हैं ॥ २ ॥

(ज्योतिः सूर्य्यः०) जो आप प्रकाशमान और जगत् का प्रकाश करने वाला, सूर्य्य अर्थात् सब संसार का ईश्वर है, उसकी प्रसन्नता के अर्थ हम लोग होम करते हैं ॥ ३ ॥

(सजूर्देवेन०) जो परमेश्वर सूर्य्यादि लोकों में व्यापक, वायु और दिन के साथ परिपूर्ण सब पर प्रीति करने वाला, और सबके अङ्ग

अङ्ग में व्याप्त है। वह अग्नि परमेश्वर हमको विदित हो। उसके अर्थ हम होम करते हैं ।। ४ ।।

इन चार आहुतियों को प्रातःकाल अग्निहोत्र में करना चाहिये।

(अग्निर्ज्यो०) अग्नि जो परमेश्वर ज्योतिःस्वरूप है, उसकी आज्ञा से हम परोपकार के लिये होम करते हैं। और उसका रचा हुआ जो यह भौतिकाग्नि है, जिसमें द्रव्य डालते हैं सो इसलिये है कि उन द्रव्यों को परमाणु करके जल और वायु, वृष्टि के साथ मिलाके उनको शुद्ध करदे। जिससे सब संसार सुखी होके पुरुषार्थी हो ।। १ ।।

(अग्निर्वर्च्चो०) अग्नि जो परमेश्वर वर्च्च अर्थात् सब विद्याओं का देने वाला, तथा भौतिक अग्नि आरोग्य और बुद्धि बढ़ाने का हेतु है। इसलिये हम लोग होम करके परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं। यह दूसरी आहुति हुई ।। २ ।।

तीसरी आहुति प्रथम मन्त्र से मौन करके करनी चाहिये ।। ३ ।।

और चौथी (सजूर्देवेन०) जो परमेश्वर प्राणादि वायु में व्यापक, वायु और रात्रि के साथ पूर्ण, सब पर प्रीति करने वाला और सब के अङ्ग अङ्ग में व्याप्त है, वह अग्नि परमेश्वर हमको प्राप्त हो। जिसके लिये हम होम करते हैं ।। ४ ।।

अब जिन मन्त्रों से दोनों समय में होम किया जाता है, उनको लिखते हैं—(ओं भू०) इन मन्त्रों में जो जो नाम है, वे सब ईश्वर के ही जानो। उनके अर्थ गायत्री मन्त्र के अर्थ में देखने योग्य हैं ।।१—४ ।।

और (आपो०) 'आप' जो प्राण परमेश्वर प्रकाश को प्राप्त होके रस अर्थात् नित्यानन्द मोक्षस्वरूप है, उस ब्रह्म को प्राप्त होकर तीनों लोकों में हम लोग आनन्द से विचरें ।। ५ ।।

[(सर्वं वै०) हे जगदीश्वर! हम परोपकार के लिये जिस कर्म को

करते हैं, वह कर्म आपकी कृपा से परोपकार के लिये समर्थ हो। इसलिये यह कर्म आप के समर्पण है ॥ ६ ॥][1]

इस प्रकार प्रातः और सायंकाल सन्ध्योपासना के पीछे इन पूर्वोक्त मन्त्रों से होम करके अधिक होम करने की जहां तक इच्छा हो वहां तक 'स्वाहा' अन्त में पढ़कर गायत्री मन्त्र से होम करें।

अग्नि वा परमेश्वर के लिये, जल और पवन की शुद्धि, वा ईश्वर की आज्ञा पालन के अर्थ होत्र जो हवन अर्थात् दान करते हैं, उसे **'अग्निहोत्र'** कहते हैं। केशर कस्तूरी आदि सुगन्ध; घृत दुग्ध आदि पुष्ट; गुड़ शर्करा आदि मिष्ट तथा सोमलतादि ओषधि रोग-नाशक, जो ये चार प्रकार के बुद्धि, वृद्धि, शूरता, धीरता, बल और आरोग्य करने वाले गुणों से युक्त पदार्थ हैं, उनका होम करने से पवन और वर्षाजल की शुद्धि करके शुद्ध पवन और जल के योग से पृथिवी के सब पदार्थों की जो अत्यन्त उत्तमता होती है, उससे सब जीवों को परम सुख होता है। इस कारण उस अग्निहोत्र कर्म्म करने वाले मनुष्यों को भी जीवों के उपकार करने से अत्यन्त सुख का लाभ होता है। **तथा ईश्वर भी उन मनुष्यों पर प्रसन्न होता है।** ऐसे ऐसे प्रयोजनों के अर्थ अग्निहोत्रादि का करना अत्यन्त उचित है।

इत्यग्निहोत्रविधिः समाप्तः ॥

---

१. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ प्रथम संस्करण मे नहीं है। संस्कृतानुसार पूर किया है ॥ सं०

अथ तृतीयः पितृयज्ञः

तस्य द्वौ भेदौ स्तः—एकस्तर्पणाख्यो, द्वितीयः श्राद्धाख्यश्च । तत्र येन कर्मणा विदुषो देवानृषीन् पितृंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति तत् 'तर्पणम्' । तथा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धं वेदितव्यम् । तदेतत् कर्म विद्वत्सु विद्यमानेष्वेव घटयते, नैव मृतकेषु । कुतः, तेषां सन्निकर्षाभावेन सेवानाशक्यत्वात् । मृतकोद्देशेन यत्क्रियते, नैव तेभ्यस्तत्प्राप्तं भवतीति व्यर्थापत्तेः । तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेणैतत्कर्मोपदिश्यते । सेव्यसेवकसन्निकर्षात् सर्वमेतत्कर्तुं शक्यत इति ।

तत्र सत्कर्त्तव्यास्त्रयः सन्ति—देवाः, ऋषयः, पितरश्च । तत्र

देवेषु प्रमाणम्[1]—

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥१॥

य० अ० १९ । मं० ३९ ॥

द्वयं वाऽइदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च । सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या, इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति । स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्धि वै देवा व्रतं चरन्ति यत् सत्यं, तस्मात् ते यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान्त्सत्यं वदति ॥ २ ॥

शत० कां० १ । अ० १ । ब्रा० १ । कं० ४, ५ ॥

विद्वांꣳसो हि देवाः ॥३॥ शत० कां० ३ । अ० ७ । ब्रा० ६ । कं० १० ॥

---

१. जातवेकवचनम् एवं सर्वत्र ॥ सं०

भाष्यम्—हे (जातवेदः) परमेश्वर ! (मा) मां (पुनीहि) सर्वथा पवित्रं कुरु । भवन्निष्ठा भवदाज्ञापालिनो (देवजनाः) विद्वांसः श्रेष्ठा ज्ञानिनो विद्यादानेन (मा) मां (पुनन्तु) पवित्रं कुर्वन्तु । तथा (पुनन्तु मनसा धियः) भवद्दत्तविज्ञानेन भवद्विषयध्यानेन वा नो बुद्धयः पुनन्तु पवित्रा भवन्तु । (पुनन्तु विश्वा भूतानि) विश्वानि सर्वाणि संसार-स्थानि भूतानि पुनन्तु भवत्कृपया पवित्राणि सुखानन्दयुक्तानि भवन्तु ॥ १ ॥

(द्वयं वा०) मनुष्याणां द्वाभ्यां लक्षणाभ्यां द्वे एव संज्ञे भवतः— देवाः, मनुष्याश्चेति । तत्र सत्यं चैवानृतं च कारणे स्तः । (सत्यमेव०) यत् सत्यवचनं सत्यमानं सत्यं कर्मैतद्देवानां लक्षणं भवति । तथैतदनृतं वचनमनृतं मानमनृतं कर्म चेति मनुष्याणाम् । योऽनृतात् पृथग्भूत्वा सत्यमुपेयात्, स देवजातौ परिगण्यते । यश्च सत्यात् पृथग्भूत्वाऽनृ-तमुपेयात्, स मनुष्यसंज्ञां लभेत । तस्मात्सत्यमेव सर्वदा वदेन्मन्येत कुर्याच्च । यत् सत्यं व्रतमस्ति, तदेव देवा आचरन्ति । स यशस्विनां मध्ये यशस्वीति देवो भवति, तद्विपरीतो मनुष्यश्च ॥ २ ॥

तस्मादत्र विद्वांस एव देवास्सन्तीति ॥ ३ ॥

भावार्थ—अब तीसरा पितृयज्ञ कहते हैं । उसके दो भेद हैं–एक तर्पण दूसरा श्राद्ध । 'तर्पण' उसे कहते हैं, जिस कर्म से विद्वान्‌रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं । उसी प्रकार जो उन लोगों का श्रद्धा से सेवन करना है, सो 'श्राद्ध' कहाता है । यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जो प्रत्यक्ष हैं, उन्हीं में घटता है, मृतकों में नहीं । क्योंकि उनकी प्राप्ति और उनका प्रत्यक्ष होना दुर्लभ है । इसी से उनकी सेवा भी किसी प्रकार से नहीं हो सकती । किन्तु जो उनका नाम लेकर देवे वह पदार्थ उनको कभी नहीं मिल सकता, इसलिये मृतकों को सुख पहुँचाना सर्वथा असंभव है । इसी कारण विद्यमानों के अभिप्राय से तर्पण और श्राद्ध वेद में कहा है । सेवा

करने योग्य और सेवक अर्थात् सेवा करनेवाले इनके प्रत्यक्ष होने पर यह सब काम हो सकता है।

तर्पण आदि कर्म में सत्कार करने योग्य तीन हैं—देव, ऋषि और पितर। उनमें से देवो में प्रमाण—

(पुनन्तु०) हे जातवेद परमेश्वर! आप सब प्रकार से मुझको पवित्र करे। जिनका चित्त आप में है, तथा जो आपकी आज्ञा पालते है, वे विद्वान् श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष भी विद्यादान से मुझ को पवित्र करे। उसी प्रकार आपका दिया जो विशेष ज्ञान वा आपके विषय का ध्यान उससे हमारी बुद्धि पवित्र हो। (पुनन्तु विश्वाभूतानि) और संसार के सब जीव आपकी कृपा से पवित्र और आनन्दयुक्त हों ॥ १ ॥

(द्वयं वा०) दो लक्षणों से मनुष्यों की दो संज्ञा होती हैं अर्थात् देव और मनुष्य। वहां सत्य और झूठ दो कारण हैं। (सत्यमेव०) जो सत्य बोलने, सत्य मानने और सत्य कर्म करने वाले हैं वे 'देव', और वैसे ही झूंठ बोलने, झूंठ मानने और झूंठ कर्म करने वाले 'मनुष्य' कहाते हैं। जो झूंठ से अलग होके सत्य को प्राप्त होवें, वे देवजाति में गिने जाते हैं। और जो सत्य से अलग होके झूंठ को प्राप्त हों, वे मनुष्य असुर और राक्षस कहे हैं। इससे सब काल में सत्य ही कहे, माने और करे। सत्यव्रत का आचरण करने वाला मनुष्य यशस्वियों में यशस्वी होने से देव और उससे उलटे कर्म करने वाला असुर होता है ॥ २ ॥

[(विद्वां०)] इस कारण से यहां विद्वान् ही देव हैं ॥ ३ ॥

अथर्षिप्रमाणम्—

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।

तेन॑ दे॒वा अ॑यजन्त सा॒ध्या ऋष॑यश्च॒ ये ॥१॥

य० अ० ३१ । मं० ९ ॥

अथ यदेवानुब्रुवीत । तेनर्षिभ्य ऋणं जायते, तद्ध्येभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः ॥ २ ॥

शत० कां १ । अ० ७ । कं० ३ ॥

अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति, तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥ ३ ॥

शत० कां० १ । प्रपा० ३ । अ० ४ । कं० ३ ॥

भाष्यम्—(तं यज्ञम्०) इति मन्त्रः सृष्टिविद्याविषये[1] व्याख्यातः ॥ १ ॥

(अथ यदेवा०)अथेत्यनन्तरं यत् सर्वविद्यां पठित्वानुवचनमध्यापनं कर्मास्ति, तदृषिकृत्यमस्ति । तेनाध्ययनाध्यापनकर्मणर्षिभ्यो देयमृणं जायते । यत् तेषामृषीणां सेवनं करोति, तदेतेभ्य एव सुखकारी भवति । यः सर्वविद्याविद् भूत्वाध्यापयति तमनूचानमृषिमाहुः ॥२॥

(अथार्षेयं प्रवृणीते०) यो मनुष्यः पठित्वा पाठनाख्यं कर्म प्रवृणीते, तदार्षेयं कर्मास्ति । य एवं कुर्वन् तेभ्य ऋषिभ्यो देवेभ्यश्चैतत् प्रियकरं वस्तु सेवनं च निवेदयति, सोऽयं विद्वान् महावीर्यो भूत्वा यज्ञं विज्ञानाख्यं (प्रापत्) प्राप्नोति । ते चैनं विद्यार्थिनं विद्वांसं कुर्युः यश्च विद्वानस्ति यश्चापि विद्यां गृह्णाति, स ऋषिसंज्ञां लभते । तस्मादिदमार्षेयं कर्म सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकार्यम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(तं यज्ञं०) इस मन्त्र का अर्थ भूमिका[2] के सृष्टिविद्या विषय में कह दिया है ॥ १ ॥

---

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायामिति शेषः ॥ सं०

२. यहां भूमिका शब्द से 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' अभिप्रेत है ॥ सं०

(अथ यदेवा०) अब इसके अनन्तर सब विद्याओं को पढ़ के जो पढ़ाना है, वह 'ऋषिकर्म' कहाता है। उस पढ़ने और पढ़ाने से ऋषियों का ऋण अर्थात् उनको उत्तम उत्तम पदार्थ देने से निवृत्त होता है। और जो इन ऋषियों की सेवा करता है, वह उनको सुख करने वाला होता है। यही व्यवहार अर्थात् विद्या कोश की रक्षा करने वाला होता है। जो सब विद्याओं को जान के सबको पढ़ाता है, उसको 'ऋषि' कहते हैं ।। २ ।।

(अथार्षेयं प्रवृणीते०) जो पढ़ के पढ़ाने के लिये विद्यार्थी का स्वीकार करना है, सो आर्षेय अर्थात् ऋषियों का कर्म कहाता है। जो उस कर्म को करता हुआ उन ऋषियों और देवों के लिये प्रसन्न करने वाले पदार्थों का निवेदन तथा सेवा करता है, वह विद्वान् अतिपराक्रमी हो के विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है। जो विद्वान् और विद्या को ग्रहण करने वाला है उसका 'ऋषि' नाम होता है। इस कारण से इस आर्षेय कर्म को सब मनुष्य स्वीकार करें ।। ३ ।।

अथ पितृषु प्रमाणम्—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् ।

स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥१॥ य० अ० २। मं० ३४ ।

भाष्यम्—ईश्वरः सर्वान् प्रत्याज्ञां ददाति—सर्वे मनुष्या एव जानीयुर्वदेयुश्चाज्ञापयेयुरिति—(मे पितॄन्) मम पितृपितामहादीन् आचार्यादींश्च यूयं सर्वे मनुष्याः (तर्पयत) सेवया प्रसन्नान् कुरुत। तथा (स्वधा स्थ) सत्यविद्याभक्तिस्वपदार्थधारिणो भवत। केन केन पदार्थेन ते सेवनीया इत्याह—(ऊर्जं वहन्तीः) पराक्रमं प्रापिकाः सुगन्धिता हृद्या अपस्तेभ्यो नित्यं दद्युः। (अमृतम्) अमृतात्मकमनेकविधरसं (घृतम्) आज्यं (पयः) दुग्धं (कीलालम्) अनेकविधसंस्कारैः

सम्पादितमन्नं माक्षिकं मधु च (परिस्रुतम्) कालपक्वं फलादिकं च दत्वा पितॄन् प्रसन्नान् कुर्युः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ऊर्जं वहन्ती०) [ईश्वर सब को आज्ञा देता है कि] पिता वा स्वामी अपने पुत्र, पौत्र, स्त्री वा नौकरों को सब दिन के लिये आज्ञा देके कहे कि—(तर्पयत मे पितॄन्) जो मेरे पिता पितामहादि माता मातामहादि तथा आचार्य और इनसे भिन्न भी विद्वान् लोग अवस्था अथवा ज्ञान से वृद्ध, मान्य करने योग्य हों, उन सब के आत्माओं को यथायोग्य सेवा से प्रसन्न किया करो। सेवा करने के पदार्थ ये हैं—(ऊर्जं वहन्ती०) जो उत्तम उत्तम जल, (अमृतम्) अनेकविधरस, (घृतम्) घी, (पयः) दूध, (कीलालम्) अनेक संस्कारों से सिद्ध किये रोगनाश करने वाले उत्तम उत्तम अन्न [और मधु], (परिस्रुतम्) सब प्रकार के उत्तम उत्तम फल है, इन सब पदार्थों से उनकी सेवा सदा करते रहो। जिससे उनका आत्मा प्रसन्न होके तुम लोगों को आशीर्वाद देता रहे कि उससे तुम लोग भी सदा प्रसन्न रहो। (स्वधा स्थ०) हे पूर्वोक्त पितृलोगो! तुम सब हमारे अमृतरूप पदार्थों के भोगों से सदा सुखी रहो। और जिस जिस पदार्थ की तुम को अपने लिये इच्छा हो, जो जो हम लोग कर सकें, उस उस की आज्ञा सदा करते रहो। हम लोग मन, वचन, कर्म से तुम्हारे सुख करने में स्थित हैं। तुम लोग किसी प्रकार का दुःख मत पाओ। जैसे तुम लोगों ने बाल्यावस्था और ब्रह्मचर्य्याश्रम में हम लोगों को सुख दिया है, वैसे हम को भी आप लोगों का प्रत्युपकार करना अवश्य चाहिये, जिससे हमको कृतघ्नता दोष न प्राप्त हो ॥ १ ॥

अथ पितॄणां परिगणनम्—

येषां पितृसंज्ञा ये सेवितुं योग्याश्च, ते क्रमशो लिख्यन्ते—

१—सोमसदः। २—अग्निष्वात्ताः। ३—बर्हिषदः। ४—

सोमपाः । ५–हविर्भुजः । ६–आज्यपाः । ७–सुकालिनः । ८–यमराजाश्चेति ॥

भाष्यम्—(सो०) सोमे ईश्वरे सोमयागे वा सीदन्ति, ये सोमगुणाश्च ते 'सोमसदः' (अ०) अग्निरीश्वरःसुष्ठुतया आत्तो गृहीतो यैस्ते 'अग्निष्वात्ताः' । यद्वा अग्नेर्गुणज्ञानात् पृथिवीजलव्योम-यान-यन्त्ररचनादिका पदार्थविद्या सुष्ठुतया आत्ता गृहीता यैस्ते । (ब०) बर्हिषि सर्वोत्कृष्टे ब्रह्मणि शमदमादिषूत्तमेषु गुणेषु वा सीदन्ति ते 'बर्हिषदः' । (सो०) यज्ञेनोत्तममौषधिरसं पिबन्ति पाययन्ति वा ते 'सोमपाः' ॥ १–४ ॥

(ह०) हविर्हुतमेव यज्ञेन शोधितवृष्टिजलादिकं भोक्तुं भोजयितु वा शीलमेषां ते 'हविर्भुजः' । (आ०) आज्यं घृतम्, यद्वा 'अज गतिक्षेपणयोः' धात्वर्थादाज्यं विज्ञानम्, तद्दानेन पान्ति रक्षन्ति पालयन्ति रक्षयन्ति ये विद्वांसस्ते 'आज्यपाः' । (सु०) ईश्वरविद्योपदेशकरणस्य ग्रहणस्य च शोभनः कालो येषां ते । यद्वा ईश्वरज्ञान-प्राप्त्या सुखरूपः सदैव कालो येषां ते 'सुकालिनः' । (य०) ये पक्षपातं विहाय न्यायव्यवस्थाकर्त्तारस्सन्ति ते 'यमराजाः' ॥ ५—८ ॥

भावार्थ—(सो०) जो ईश्वर और सोमयज्ञ में निपुण, और जो शान्त्यादिगुण सहित हैं, वे 'सोमसद्' कहाते हैं । (अ०) अग्नि जो परमेश्वर वा भौतिक उनके गुण ज्ञात करके जिनने अच्छे प्रकार अग्निविद्या सिद्ध की है, उनको 'अग्निष्वात्त' कहते हैं । (ब०) जो सब से उत्तम परब्रह्म में स्थिर होके शम-दम-सत्य-विद्यादि उत्तम गुणों में वर्त्तमान हैं, उनको 'बर्हिषद्' कहते हैं । (सो०) जो यज्ञ करके सोमलतादि उत्तम ओषधियों के रस के पान करने और कराने वाले हैं, तथा जो सोमविद्या को जानते हैं, उनको 'सोमपा' कहते हैं ॥ १—४ ॥

(हु०) जो अग्निहोत्रादि यज्ञ करके वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा सब जगत् का उपकार करते, और जो यज्ञ से अन्नजलादि की शुद्धि करके खाने पीने वाले हैं, उनको 'हविर्भुज' कहते हैं। (आ०) आज्य कहते हैं घृत, स्निग्धपदार्थ और विज्ञान को, जो उसके दान से रक्षा करने वाले हैं, उनको 'आज्यपा' कहते हैं। (सु०) मनुष्यशरीर को प्राप्त होकर ईश्वर और सत्यविद्या के उपदेश का जिनका श्रेष्ठ समय, और जो सदा उपदेश में ही वर्त्तमान है उनको 'सुकालिन' कहते हैं। (य०) जो पक्षपात को छोड़ के सदा सत्य न्याय व्यवस्था ही करने में रहते हैं, उनको 'यमराज' कहते हैं ॥ ५—८ ॥

९–पितृपितामहप्रपितामहाः। १०–मातृपितामहीप्रपितामह्यः। ११–सगोत्राः। १२– [आचार्यादि] सम्बन्धिनः ॥

भाष्यम्—(पि०)ये सुष्ठुतया श्रेष्ठान् विदुषो गुणान् वासयन्तस्तत्र वसन्तश्च, विज्ञानाद्यनन्तधनाः स्वान् जनान् धारयन्तः पोषयन्तश्च चतुर्विंशतिवर्षपर्य्यन्तेन ब्रह्मचर्य्येण विद्याभ्यासकारिणः स्वे जनकाश्च सन्ति, ते पितरो वसवो विज्ञेया ईश्वरोऽपि। (पिता०) ये पक्षपात-रहिता दुष्टान् रोदयन्तश्चतुश्चत्वारिंशद्वर्षपर्य्यन्तेन ब्रह्मचर्यसेवनेन कृतविद्याभ्यासास्ते रुद्राः स्वे पितामहाश्च ग्राह्यास्तथा रुद्र ईश्वरोऽपि। (प्रपि०) आदित्यवदुत्तमगुणप्रकाशका विद्वांसोऽष्टचत्वारिंशद्वर्षेण ब्रह्मचर्येण सर्वविद्यासम्पन्नाः सूर्यवद्विद्याप्रकाशाः [त आदित्याः] स्वे प्रपितामहाश्च ग्राह्यास्तथाऽऽदित्योऽविनाशीश्वरो वात्र गृह्यते।

(मा०) पित्रादिसदृश्यो मात्रादयः सेव्याः ॥ ९—१० ॥

ये (स०) स्वसमीपं प्राप्ताः पुत्रादयस्ते श्रद्धया पालनीयाः। (आ० सं०) ये गुर्वादिसम्बन्धास्सन्ति ते हि सर्वदा सेवनीयाः ॥ ११—१२ ॥

भावार्थ—(पि०) जो वीर्य के निषेकादि कर्मों को करके उत्पत्ति

और पालन करे, और चौबीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्याश्रम से विद्या को पढ़े, उसका नाम 'पिता' और 'वसु' है। (पिता०) जो पिता का पिता हो, और चवालीस वर्ष पर्य्यन्त [ब्रह्मचर्य से विद्याभ्यास कर पक्षपात रहित होकर दुष्टों को रुलाने वाला है, उसका नाम 'पितामह' और 'रुद्र' है। (प्रपितामहः) जो पितामह का पिता और आदित्य के समान उत्तम गुणों का प्रकाशक अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त][1] ब्रह्मचर्य्याश्रम से विद्या पढ़ के सब जगत् का उपकार करता हो, 'प्रपितामह' और 'आदित्य' कहते हैं। तथा जो पित्रादिकों के तुल्य पुरुष हैं उनकी भी पित्रादिकों के तुल्य सेवा करनी चाहिये।

(मा०) पित्रादिकों के समान विद्या स्वभाव वाली स्त्रियों की भी अत्यन्त सेवा करनी चाहिये ॥ ९—१० ॥

(सगो०) जो समीपवर्त्ती ज्ञाति के योग्य पुरुष हैं, वे भी सेवा करने के योग्य हैं ॥

(आचार्य्यादिसं०) जो पूर्ण विद्या के पढ़ाने वाले श्वसुरादि सम्बन्धी तथा उनकी स्त्री हैं, उनकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिये ॥ ११—१२ ॥

एतेषां विद्यमानानां सोमसदादीनां सुखार्थं प्रीत्या यत् सेवनं क्रियते तत् तर्पणम्, श्रद्धया यत् सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धम्। ये सत्य-विज्ञानदानेन जनान् पान्ति रक्षन्ति ते पितरो विज्ञेयाः।

अत्र प्रमाणानि—

'ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासः'[2] इत्यादीनि यजुर्वेदस्यैकोनविंशति-तमेऽध्याये सप्तसु सोमसदादिषु पितृषु द्रष्टव्यानि। तथा ये समानाः समनसः पितरो यमराज्य[3] इत्यादीनि यमराजेषु। 'पितृभ्यः स्वधा-

---

१. यह पाठ प्रथम सं० में नहीं है। संस्कृतानुसार पूरा किया है ॥ सं०

२. यजुः १९। ५१ ॥ ऋ० १०। १५। ८ ॥ ३. यजुः १९। ४५ ॥

यिभ्यः स्वधा नमः'[1] इत्यादीनि पितृपितामहप्रपितामहादिषु । एवं 'नमो वः पितरो रसाय'[2] इत्यादीनि पितृणां सत्कारे च । इति ऋग्यजुरादि वचनानि सन्तीति बोध्यम् । अन्यच्च—

वसून् वदन्ति वै पितृन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहांश्चादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी ॥ म० अ० ३ । श्लो० २८४ ।

भावार्थ—जो सोमसदादि पितर विद्यमान अर्थात् जीवते हों, उनको प्रीति से सेवनादि से तृप्त करना 'तर्पण' और श्रद्धा से अत्यन्त प्रीतिपूर्वक सेवन करना है, सो 'श्राद्ध' कहता है । जो सत्य विज्ञानदान से जनों को पालन करते हैं वे 'पितर' हैं । इस विषय में प्रमाण—

'ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासः[3] इत्यादि मन्त्र सोमसदादि सातों पितरों में प्रमाण हैं । 'ये समानाः समनसः पितरो यमराज्य'[4] इत्यादि मन्त्र यमराजों, 'पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः'[5] इत्यादि मन्त्र पिता पितामह प्रपितामहादिकों तथा 'नमो वः पितरो रसाय'[6] इत्यादि मन्त्र पितरों की सेवा और सत्कार में प्रमाण हैं । ये ऋग्-यजुर्वेद आदि के वचन हैं ।

और मनुजी ने भी कहा है कि—'पितरों को वसु, पितामहों को रुद्र और प्रपितामहों को आदित्य कहते हैं, यह सनातन श्रुति है ।'
मनु० अ० ३ । श्लो० २८४ ॥

इति पितृयज्ञविधिः समाप्तः ॥

---

१. यजुः १९ । ३६ ॥ २. यजुः २ । ३२ ॥ सं०
३. यजुः १९ । ५१ ॥ ऋ० १० । १५ । ८ ॥
४. यजुः १९ । ४५ ॥
५. यजुः १९ । ३६ ॥
६. यजुः २ । ३२ ॥ सं०

अथ बलिवैश्वदेवविधिर्लिख्यते

यदन्नं पक्वमक्षारलवणं भोजनार्थं भवेत्तेनैव बलिवैश्वदेवकर्म कार्य्यम्—

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ।।

मनु० अ० ३ । श्लो० ८४ ।।

भावार्थ—[अब चौथे बलिवैश्वदेव की विधि लिखी जाती है—अर्थात् जब भोजन सिद्ध हो, तब जो कुछ भोजनार्थ बने उसमें से खट्टा, लवणान्न और क्षार को छोड़कर घृतमिष्टयुक्त अन्न जो कुछ पाकशाला में सिद्ध हो, उसको दिव्यगुणों के अर्थ पाकाग्नि में विधिपूर्वक नित्य होम करे ।][1]

अथ बलिवैश्वदेवकर्म्मणि प्रमाणम्—

अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ।।१।।

अथर्व० कां० १६ । सू० ५५ । मं० ७ ।।[2]

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ।।२।।

य० अ० १९ । मं० ३९ ।

भाष्यम्—हे (अग्ने) परमेश्वर ! ये (अहरहर्बलि०) भवदाज्ञया

---

१. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ प्रथम सं० मे नही है । सस्कृतानुसार पूरा किया है ।। सं०

२. जर्मन सं० पृ० ३८५ ।। सं०

बलिवैश्वदेवं नित्यं कुर्वन्तो मनुष्यास्ते (रायस्पोषेण समिषा) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्म्या घृतदुग्धादिपुष्टिकारकपदार्थप्राप्त्या च सम्यक् शुद्धेच्छया (मदन्तः) नित्यानन्दप्राप्ताः सन्तः, मातुः पितुराचार्य्यादीनां चोत्तमपदार्थैः प्रीतिपूर्विकां सेवां नित्यं कुर्युः। (अश्वायेव तिष्ठते घासम्) यथाऽश्वस्य सन्मुखे तद्भक्ष्यं तृणवीरुधादि वा तत्पानार्थं जलादि पुष्कलं स्थाप्यते, तथा सर्वेषां सेवनाय बहून्युत्तमानि वस्तूनि दद्युर्यतस्ते प्रसन्ना भवेयुः। (मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम) हे परमगुरो अग्ने परमेश्वर! भवदाज्ञातो ये विरुद्धव्यवहारस्तेषु वयं कदाचिन्न प्रविशेम। अन्यायेन कदाचित्प्राणिनः पीडां न दद्याम। किन्तु सर्वान् स्वमित्राणीव स्वयं सर्वेषां मित्रमिवेति ज्ञात्वा परस्परमुपकारं कुर्य्यामितीश्वराज्ञास्ति ॥ १ ॥

(पुनन्तु०) अस्यार्थो देवप्रकरणे[1] उक्तः ॥ २ ॥

भावार्थ—हे (अग्ने) परमेश्वर! आपकी आज्ञा से (अहरहर्बलि०) नित्य प्रतिबलिवैश्वदेव कर्म करते हुए हम लोग (रायस्पोषेण समिषा) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्मी, घृतदुग्धादि पुष्टिकारक पदार्थों की प्राप्ति और सम्यक् शुद्ध इच्छा से (मदन्तः) नित्य आनन्द में रहें। तथा माता पिता आचार्य्य आदि की उत्तम पदार्थों से नित्य प्रीतिपूर्वक सेवा करते रहें (अश्वायेव तिष्ठते घासम्) जैसे घोड़े के सामने बहुत से खाने वा पीने के पदार्थ धर दिये जाते हैं, वैसे सबकी सेवा के लिये बहुत से उत्तम उत्तम पदार्थ देवें। जिनसे वे प्रसन्न होके हम पर नित्य प्रसन्न रहें। (मा ते अग्ने प्रतिवेषा रिषाम) हे परमगुरु अग्नि परमेश्वर! आप और आपकी आज्ञा से विरुद्ध व्यवहारों में हम लोग कभी प्रवेश न करें, और अन्याय से किसी प्राणी को पोड़ा न पहुँचावें, किन्तु सबको अपना मित्र और अपने को सबका मित्र समझ के परस्पर उपकार करते रहें ॥ १ ॥

---

१. पितृयज्ञान्तर्गते इति शेषः। पञ्चमहा० पृ० ३७ ॥ सं०

(पुनन्तु०) इसका अर्थ देवतर्पणविषय[1] में कर दिया है ।। २ ।।

अथ होममन्त्राः—

ओमग्नये स्वाहा ।। १ ।। ओं सोमाय स्वाहा ।। २ ।। ओमग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ।। ३ ।। ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ।।४।। ओं धन्वन्तरये स्वाहा ।। ५ ।। ओं कुह्वै स्वाहा ।।६।। ओमनुमत्यै स्वाहा ।। ७ ।। ओं प्रजापतये स्वाहा ।। ८ ।। ओं सह द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा ।। ९ ।। ओं स्विष्टकृते स्वाहा ।। १० ।।

भाष्यम्—(ओम०) अस्यार्थ उक्तः । (ओं सो०) सर्वानन्दप्रदो यः सर्वजगदुत्पादक ईश्वरः सोऽत्र ग्राह्यः । [(ओमग्नी०) प्राणापानाभ्याम्, अनयोरर्थो[2] गायत्रीमन्त्रार्थ उक्त[3] ।][4] (ओं वि०) विश्वेदेवा विश्वप्रकाशका ईश्वरगुणाः, सर्वे विद्वांसो वा । (ओं धन्व०) 'सर्वरोगनाशक ईश्वरोऽत्र गृह्यते । (ओं कु०) दर्शेष्टयर्थोयमारम्भः । अमावास्येष्टिप्रतिपादितायै चितिशक्तये वा ।। १—२ ।।

(ओम०) पौर्णमासेष्टयर्थोऽयमारम्भः, विद्यापठनानन्तरं मतिर्मननं ज्ञानं यस्याश्चितिशक्तेः सा चितिरनुमतिर्वा । (ओं प्र०) सर्वजगतः स्वामी रक्षक ईश्वरः । (ओं सह०) ईश्वरेण प्रकृष्टगुणैः सहोत्पादि-

---

१. पञ्चमहा० पृ० ३८ ।। सं०

२. पितृयज्ञान्तर्गते इतिशेषः । ।। स०

३. अनयोः प्राणापानयोरित्यर्थः ।।

४. महाव्याहृत्यर्थे,

५. यह पाठ प्रथम संस्करण में नहीं है । किन्तु इन मन्त्रों का अर्थ ऋ० भाष्यभूमिका में ऐसा ही किया है ।। सं०

तयोः पुष्टिकरणाय । (ओं स्विष्ट०) यः सुष्ठु शोभनमिष्टं सुखं करोति स चेश्वरः ।। ७—१० ।।

एतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वाऽथ बलिदानं कुर्यात्—

भावार्थ—(ओम०) अग्नि शब्दार्थ कह आये[1] हैं । (ओं सो०) जो सब पदार्थों को उत्पन्न और पुष्ट करने से सुख देनेहारा है, उसको 'सोम' कहते हैं । (ओमग्नी०) जो प्राण सब प्राणियों के जीवन का हेतु, और अपान अर्थात् दुःख के नाश का हेतु है, इन दोनों को अग्नीषोम' कहते हैं । (ओं वि०) यहाँ संसार को प्रकाश करने वाले ईश्वर के गुण, अथवा विद्वान् लोगों का 'विश्वेदेव' शब्द से ग्रहण होता है । (ओं ध०) जो जन्ममरणादि रोगों का नाश करनेहारा परमात्मा है वह 'धन्वन्तरि' कहाता है । (ओं कु०) जो अमावास्येष्टि का करना है ।। १—६ ।।

(ओम०) जो पौर्णमास्येष्टि वा सर्वशास्त्रप्रतिपादित परमेश्वर की चिति शक्ति है यहाँ उसका ग्रहण है । (ओं प्र०) जो सब जगत् का स्वामी जगदीश्वर है, वह 'प्रजापति' कहाता है । (ओं स०) ईश्वर से उत्पादित अग्नि और पृथिवी की पुष्टि करने के लिये । (ओं स्वि०) जो इष्ट सुख करनेहारा परमेश्वर है, वही 'स्विष्टकृत्' कहाता है । ये दश अर्थ दश मन्त्रों के हैं ।। ७—१० ।।

अब बलिदान के मन्त्रों को लिखते हैं—

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ।। ओं सानुगाय यमाय नमः ।। ओं सानुगाय वरुणाय नमः ।। ओं सानुगाय सोमाय नमः ।। ओं मरुद्भ्यो नमः ।। ओम् अद्भ्यो नमः ।। ओं वनस्पतिभ्यो

---

१. पञ्चमहा० पृ० २४ ।। सं०

नमः ।। ओं श्रियै नमः ।। ओं भद्रकाल्यै नमः ।। ओं ब्रह्मपतये नमः ।। ओं वास्तुपतये नमः ।। ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ।। ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः ।। ओं नक्तं-चारिभ्यो भूतेभ्यो नमः ।। ओं सर्वात्मभूतये नमः ।। ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ।। १-१६।।

भाष्यम्—(ओं सा०) 'णम प्रह्वत्वे शब्दे च' इत्यनेन सत्क्रियापुरस्सरविचारेण मनुष्याणां यथार्थं विज्ञानं भवतीति वेद्यम्। नित्यैर्गुणैस्सह वर्त्तमानः परमैश्वर्यवानीश्वरोऽत्रेन्द्र शब्देन गृह्यते । (ओं सानु०) पक्षपातरहितो न्यायकारित्वादिगुणयुक्तः परमात्मात्र यमशब्दार्थेन वेद्यः । (ओं सा०) विद्याद्युत्तमगुणविशिष्टः सर्वोत्तमः परमेश्वरोऽत्र वरुणशब्देन ग्रहीतव्यः । (ओं सानुगाय सो०) अस्यार्थः उक्तः ।।

(ओं म०) य ईश्वराधारेण सकलं विश्वं धारयन्ति चेष्टयन्ति ते अत्र मरुतो गृह्यन्ते । (ओं अद्भ्य०) अस्यार्थः 'शन्नोदेवी' रित्यत्रोक्तः । (ओं व०) वनानां लोकानां पतय ईश्वरगुणाः परमेश्वरो वा । बहुवचनमत्रादरार्थम् । यद्वोत्तमगुणयोगेनेश्वरेणोत्पादितेभ्यो महावृक्षेभ्यश्चेति बोध्यम् । (ओं श्रि०) श्रीयते सेव्यते सर्वैर्जनैस्सः श्रीरीश्वरस्सर्वसुखशोभावत्वाद् गृह्यते । यद्वा तेनोत्पादिता विश्वशोभा च । (ओं भ०) भद्रं कल्याणं सुखं कालयितुं शीलमस्याः सा भद्रकालीश्वरशक्तिः ।

(ओं ब्र०) ब्रह्मणः सर्वशास्त्रविद्यायुक्तस्य वेदस्य ब्रह्माण्डस्य वा पतिरीश्वरः। (ओं वा०) वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिंस्तद्वास्त्वाकाशं तत्पतिरीश्वरः । (ओं वि०) अस्यार्थ उक्तः। (ओं दि०) (ओं नक्तं०) ईश्वरकृपयैवं भवेद् दिवसे यानि भूतानि विचरन्ति रात्रौ च,

१. पञ्चमहा० पृ० ४८ ।। २. पञ्चमहा० पृ० ४ ।। सं०

तान्यस्मासु विघ्नं मा कुर्वन्तु । तैः सहास्माकमविरोधोस्तु । एत-दर्थोऽयमारम्भः । (ओं स०) सर्वेषां जीवात्मनां भूतिर्भवनं सत्तेश्वरो नान्यः । (ओं पि०) अस्यार्थः पितृतर्पणे प्रोक्तः । नम इत्यस्य निरभिमानद्योतनार्थः । परस्योत्कृष्टतया मान्यज्ञापनार्थश्चारम्भः ॥ १—१६ ॥

भावार्थ—(ओं सा०) जो सर्वैश्वर्य्ययुक्त परमेश्वर और जो उसके गुण हैं, वे **'सानुग इन्द्र'** शब्द से ग्रहण होते हैं, (ओं सा०) जो सत्य न्याय करने वाला ईश्वर और उसकी सृष्टि में सत्य न्याय के करने वाले सभासद् हैं, वे **'सानुग यम'** शब्दार्थ से ग्रहण होते हैं। (ओं सा०) जो सबसे उत्तम परमात्मा और उसके धार्मिक भक्त हैं, वे **'सानुग वरुण'** शब्दार्थ से जानने चाहियें। (ओं सा०) पुण्यात्माओं को आनन्दित करने वाला और जो पुण्यात्मा लोग हैं, वे **'सानुग सोम'** शब्द से ग्रहण किये हैं।

(ओं मरु०) जो प्राण अर्थात् जिनके रहने से जीवन और निकलने से मरण होता है, उनको **'मरुत्'** कहते हैं। इनकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये। (ओं अद्भ्यो०) इसका अर्थ **'शन्नोदेवी'** इस मन्त्र के अर्थ में लिखा है। (ओं व०) जिनसे वर्षा अधिक होती और जिनके फलादि से जगत् का उपकार होता है, उनकी भी रक्षा करनी योग्य है। (ओं श्रि०) जो सब के सेवा करने योग्य परमात्मा है, उसकी सेवा से राज्यश्री की प्राप्ति के लिये सदा उद्योग करना चाहिये। (ओं भ०) जो कल्याण करने वाली परमात्मा की शक्ति अर्थात् सामर्थ्य है, उसका सदा आश्रय करना चाहिये।

(ओं ब्र०)जो वेद का स्वामी ईश्वर है, उसकी प्रार्थना और उद्योग विद्या-प्रचार के लिये अवश्य करना चाहिये। (ओं वा०) जो वास्तुपति गृहसम्बन्धी पदार्थों का पालन करनेहारा मनुष्य अथवा ईश्वर है, इनका सहाय सर्वत्र होना चाहिये। (ओं वि०) इसका अर्थ

कह दिया है। (ओं दि०) जो दिन में विचरने वाले प्राणियों से उपकार लेना और उनको सुख देना है, सो मनुष्यजाति का ही काम है। (ओं नक्तं०) जो रात्रि में विचरने वाले प्राणी हैं, उनसे भी उपकार लेना और जो उनको सुख देना है, इसलिये यह प्रयोग है। (ओं सर्वात्म०) सब में व्याप्त परमेश्वर की सत्ता को सदा ध्यानमें रखना चाहिये। (ओं पि०) माता, पिता, आचार्य, अतिथि, पुत्र, भृत्यादिकों को भोजन कराके पश्चात् गृहस्थ को भोजनादि करना चाहिये। '**स्वाहा**' शब्द का अर्थ पूर्व कर दिया है। और '**नमः**' शब्द का अर्थ यह है कि आप अभिमान रहित होके दूसरे का मान्य करना ॥ ९—१६ ॥

इसके पीछे छः भागों को लिखते है—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥[1]

अनेन षड् भागान् भूमौ दद्यात्। एवं सर्वप्राणिभ्यो भागान् विभज्य दत्वा च तेषां प्रसन्नतां संपादयेत्।

भाषार्थ—कुत्तों, कङ्गालों, कुष्ठी आदि रोगियों, काक आदि पक्षियों और चीटी आदि कृमियों के लिये छः भाग अलग-अलग बाँट के दे देना और उनकी प्रसन्नता सदा करना।

यह वेद और मनुस्मृति की रीति से बलिवैश्वदेव की विधि लिखी ॥

इति बलिवैश्वदेवविधिः समाप्तः

———

१. मनु० ३। ९२ ॥ सं०

अथ पञ्चमोऽतिथियज्ञः प्रोच्यते

यत्रातिथीनां सेवनं यथावत् क्रियते, तत्रैव कल्याणं भवति। ये पूर्णविद्यावन्तः परोपकारिणो जितेन्द्रिया धार्मिकाः सत्यवादिनश्छलादिदोषरहिता नित्यभ्रमणकारिणो मनुष्यास्सन्ति तानतिथीन् कथयन्ति। अत्रानेके प्रमाणभूता वैदिकमन्त्रास्सन्ति, परन्त्वत्र संक्षेपतो द्वावेव लिखामः—

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥१॥

स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥२॥

अथर्व० कां० १५। सू० ११। मं० १, २॥

भाष्यम्—(तद्य०) यस्य गृहे पूर्वोक्तविशेषयुक्तो विद्वान् (व्रात्यो०) महोत्तमगुणविशिष्टः सेवनीयोऽतिथिरर्थाद्यस्य गमनागमनयोरनियततिथिर्न यस्य काचिन्नियता तिथिर्भवति, किन्तु स्वेच्छयाऽकस्मादागच्छेद् गच्छेच्च, स यदा गृहस्थानां गृहेषु प्राप्नुयात् ॥ १ ॥

(स्वयमेनम०) तदा गृहस्थोऽत्यन्तप्रेम्णोत्थाय नमस्कृत्य च तं महोत्तमासने निषादयेत्। तदन्तरं पृच्छेद् भवतां जलादेरन्यस्य वा वस्तुन इच्छास्ति चेत्तद् ब्रूहि। सेवां कृत्वा तत्प्रसन्नतां सम्पाद्य स्वस्थचित्तस्सन्नेवं पृच्छेत्—(व्रात्य क्वावात्सीः) हे व्रात्य पुरुषोत्तम! त्वमितः पूर्वं क्व अवात्सीः कुत्र निवासं कृतवान्। (व्रात्योदकम्) हे अतिथे! जलमेतद् गृहाण। (व्रात्य तर्पयन्तु) भवान् स्वकीयसत्योपदेशेनास्मांश्च तर्पयतु, प्रीणयतु, तथा भवत्सत्योपदेशेन

तत्सर्वाणि मम मित्राणि भवन्तं तर्पयित्वा विज्ञानवन्तो भवन्तु ।
(व्रात्य यथा०) हे विद्वन्! यथा भवतः प्रसन्नता स्यात्तथा वयं कुर्य्याम । यद्वस्तु भवत्प्रियमस्ति तस्याज्ञां कुरु। (व्रात्य यथा ते०) हे अतिथे! यथेच्छतु भवान् तदनुकूलानस्मान् भवत्सेवाकरणे निश्चिनोतु। (व्रात्य यथा ते०) यथा भवदिच्छापूर्तिस्स्यात् तथा भवत्सेवां वयं कुर्याम। यतो भवान् वयं न परस्परं सेवासत्सङ्ग-पूर्विकया विद्यावृद्ध्या सदानन्दे तिष्ठेम ।

भावार्थ—अब जो पांचवां अतिथियज्ञ कहाता है, उसको लिखते हैं—जिसमें अतिथियों की यथावत् सेवा करनी होती है। जो पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धार्मिक, सत्यवादी, छल-कपट-रहित, नित्य भ्रमण करने वाले मनुष्य होते हैं, उनको 'अतिथि' कहते हैं। इनमें अनेक वैदिक मन्त्र प्रमाण है। परन्तु यहां संक्षेप के लिये दो ही मन्त्र लिखते है—

(तद्यस्यैवं विद्वान्) जिनके घर में पूर्वोक्त गुणयुक्त विद्वान् (व्रात्यो०) उत्तम गुणविशिष्टसेवा करने के योग्य अतिथि, अर्थात् जिसकी आने जाने की कोई भी निश्चित तिथि नहीं हो, जो अकस्मात् आवे और जावे, जब ऐसा मनुष्य गृहस्थों के घर में प्राप्त हो ॥ १ ॥

(स्वयमेनम०) तब उसको गृहस्थ अत्यन्त प्रेम से उठकर नमस्कार करके, उत्तम आसन पर बैठाके, पश्चात् पूछे कि आपको कुछ जल वा किसी अन्य वस्तु की इच्छा हो सो कहिये। इस प्रकार उसको प्रसन्न कर और स्वयं स्वस्थचित्त होके उससे पूछे कि—(व्रात्य क्वावात्सीः) हे व्रात्य उत्तम पुरुष! आपने यहां आने के पूर्व कहाँ वास किया था। (व्रात्योदकम्) हे अतिथि! यह जल लीजिये। (व्रात्य तर्पयन्तु) और हम लोग अपने सत्य प्रेम से आपको तृप्त करते हैं, और सब हमारे इष्ट मित्र लोग आपके उपदेश से विज्ञानयुक्त

होके सदा प्रसन्न हों। (व्रात्य यथा०) हे विद्वान् व्रात्य! जिस प्रकार से आपकी प्रसन्नता हो वैसा ही हम लोग काम करें, और जो पदार्थ आपको प्रिय हो उसकी आज्ञा कीजिये। (व्रात्य यथा०) जिस प्रकार से आपकी कामना पूर्ण हो वैसी आपकी सेवा हम लोग करें। जिससे आप और हम लोग परस्पर सेवा और सत्संगपूर्वक विद्यावृद्धि से सदा आनन्द में रहें ॥ २ ॥

इति संक्षेपतोऽतिथियज्ञः ॥

श्रीयुतविक्रमादित्यमहाराजस्य चतुस्त्रिंशोत्तरे एकोनविंशे
संवत्सरे भाद्रपौर्णिमायां समापितः ॥

इति पञ्चमहायज्ञविधिः समाप्तः ॥

अथ सन्ध्याशब्दानामर्थनिर्देशः

अभिष्टये-इष्ट आनन्द की प्राप्ति
के लिए
अभि—सब तरफ से
अभीद्धात्—सब तरफ से प्रकाशित
अध्यजायत—पैदा हुआ
अजायत—पैदा हुआ
अर्णवः—जलवाला
अधि—पीछे
अहः—दिन
अकल्पयत्—रचा
अथो—पीछे
अन्तरिक्षम्—बीच आकाश में
रहने वाले लोक
अग्निः—प्रकाशस्वरूप
अधिपतिः—स्वामी
अस्तु—हो
असितः—निर्बन्धन
अस्मान्—हमको
अन्नम्—पृथिव्यादि भोग्यपदार्थ
अशनिः—बिजली
अगन्म—प्राप्त हों
अनीकम्—बल

अग्नेः—प्रकाशक की
अदीनाः—स्वाधीन
आपः—व्यापक
आदित्य—सूर्यकिरणें
आप्राः—सब तरफ से धारण तथा
रक्षा रक्षा करता है
आत्मा—सर्वत्र व्यापक
इषवः—बाण
इन्द्रः—ऐश्वर्यवाला
उदीची—उत्तर
उत्तरम्—पीछे
उत्तमम्—अच्छा
उ—निश्चय
उद्—अच्छा
उदगात्—उत्कृष्टता से प्राप्त
उच्चरत्—उत्कृष्टता से व्याप्त
ऊर्ध्वा—ऊपर
ऋतम्—वेद
एभ्यः—इनके लिए
ओम्—रक्षा करने वाला
कण्ठः—गला
कर—हाथ

कण्ठे—गले में
कल्माष—हरित
केतवः—किरणें
खम्—आकाश की तरह व्यापक
ग्रीवा—गरदन
चक्षुः—आंख
च—और
चन्द्रमा—चांद
चित्रम्—अद्भुत
ज्योतिः—स्वप्रकाश
जीवेम्—जीवें
जातवेदसम्—जिससे वेद पैदा हुए उसको
जगतः—चर संसार का
जनः—पैदा करनेवाला
जम्भे—वश में
त्यम्—उसको
तस्थुषः—स्थावर का
तत्—वह
तपः—ज्ञानरूप
तपसः—सामर्थ्य से
ततः—फिर
तेभ्यः—उनके लिये
तम्—उसको
तिरश्चि—कीड़े बिच्छू वगैरह
तमसः—अन्धकार से
तल—तला
देवीः—प्रकाशक
दिवम्—सूर्यादिलोक को
दिग्—दिशा
द्वेष्टि—द्वेष करता है
द्विष्मः—द्वेष करते है
दध्मः—धारण करें
दक्षिणा—दाहिनी
देवम्—दिव्यरूप
दृशे—देखने को
देवानाम्—विद्वानों के
देवत्रा—देवों, अच्छे गुणवालों
द्यावा—सूर्यलोक
देवस्य—प्रकाशक का
धीमहि—ध्यान करते है
धियः—बुद्धियों को
धाता—धारणकर्त्ता
ध्रुवा—नीचली
नः—हमको
नाभिः—टुंडी
नेत्रयोः—नेत्रों को
नाभ्याम्—नाभि में
नमः—नमना
नः—हम पर
प्राणः—प्राणवायु
पुरस्तात्—सृष्टि से पहिले
पश्येम—देखें
प्रब्रवाम—उपदेश करें

प्रचोदयात्—प्रेरणा करे
पीतये—पूर्णानन्द के लिये
पृष्ठे—पीठ मे
पादयो:—पैरों में
पुनातु—पवित्र करे
पुन:—फिर
पूर्वम्—पहिले
पृथिवी—जमीन
प्राची—पूर्व
प्रतीची—पश्चिम
पितर:—ज्ञानी लोग
पदाकु:—सांप
पश्यन्त:—देखते हुए
परि—जुदा
बलम्—बल
ब्रह्म—सब से बड़ा
बाहुभ्यां—हाथों से
बृहस्पति:—बड़ों का स्वामी
भवन्तु—हो
भू:—प्राणदाता
भुव:—दु:खहर्त्ता
भूय:—अधिक
भर्ग:—शुद्ध, विज्ञानरूप
मित्रस्य—मित्र के
मयोभवाय—सुखस्वरूप के लिये
मयस्कराय—सुख करने वाले के लिए

मह:—बड़ा
मिषत:—स्वभाव से
यथा—जैसे
यश:—कीर्ति
य:—जो
यम्—जिसको
रात्रि—रात
रक्षिता—रक्षा करने वाला
राजी—पंक्ति
वरुणस्य—श्रेष्ठकर्म में वर्तमान का
वरेण्यं—ग्रहण के योग्य
वाक्—वाणी
विदधत्—रचते हैं
विश्वस्य—जगत् के
वशी—वश मे रखने वाला
व:—उनके
वरुण:—श्रेष्ठस्वामी
वहन्ति—प्राप्त कराते हैं
विष्णु:—व्यापक
वीरुध:—वृक्षादि
वर्षम्—वर्षा
वयम्—हम
शम्—कल्याण
शयो:—सुख की
शिर:—सिर
श्रोत्रम्—कान
शिरसि—सिर में

श्वित्रः—ज्ञानमय
शुक्रम्—शुद्ध
शरदः—वर्षों के
शतम्—सौ
शङ्कराय—कल्याणकर्त्ता के लिये
शृणुयाम—सुनें
शतात्—सौ से
शम्भवाय—सुखकारी के लिये
शिवाय—सुखस्वरूप के लिये
शिवतराय—अत्यन्त सुखस्वरूप के लिये
स्रवन्तु—वर्षा करें
स्वः—मध्यस्थलोक, सुखस्वरूप
सत्यम्—अविनाशी
सर्वत्र—सब जगह
समुद्रात्—समुद्र से
संवत्सरः—साल वग़ैरह
सूर्यः—सूरज, सब जगत् का प्रकाशक
सोमः—पैदा करने वाला
स्वजः—जन्मरहित
सूर्यः—व्यापक
स्याम—हों
स्वाहा—प्यारा वचन बोलना
सवितुः—पैदा करने वाले के
हितम्—भला चाहनेवाला
हृदयम्—हृदय
हृदये—हृदय में

❁ ओ३म् ❁

व्यवहारभानुः

श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीरचितः

पठनपाठन-व्यवस्थायां

तृतीयं पुस्तकम्

भूमिका

मैंने परीक्षा करके निश्चय किया है कि जो धर्मयुक्त व्यवहार में ठीक ठीक वर्त्तता है उसको सर्वत्र सुखलाभ और जो विपरीत वर्त्तता है वह सदा दुःखी होकर अपनी हानि कर लेता है । देखिये जब कोई सभ्य मनुष्य विद्वानों की सभा में वा किसी के पास जाकर अपनी योग्यता के अनुसार नम्रतापूर्वक 'नमस्ते' आदि करके बैठ के दूसरे की बात ध्यान दे सुन, उसका सिद्धान्त जान निरभिमानी होकर युक्त प्रत्युत्तर करता है, तब सज्जन लोग प्रसन्न होकर उसका सत्कार और जो अण्डबण्ड बकता है उसका तिरस्कार करते हैं ।

जब मनुष्य धार्मिक होता है तब उसका विश्वास और मान्य शत्रु भी करते हैं और जब अधर्मी होता है तब उसका विश्वास और मान्य मित्र भी नहीं करते । इससे जो थोड़ी विद्या वाला भी मनुष्य श्रेष्ठ शिक्षा पाकर सुशील होता है उसका कोई भी कार्य्य नहीं बिगड़ता ।

इसलिये मैं मनुष्यों की उत्तम शिक्षा के अर्थ सब वेदादिशास्त्र और सत्याचारी विद्वानों की रीतियुक्त इस 'व्यवहारभानु' ग्रन्थ को बनाकर प्रसिद्ध करता हूं कि जिसको देख दिखा, पढ़ पढ़ाकर मनुष्य अपने और अपने अपने संतान तथा विद्यार्थियों का आचार अत्युत्तम करें कि जिससे आप और वे सब दिन सुखी रहें ।

इस ग्रन्थ में कहीं कहीं प्रमाण के लिए संस्कृत और सुगम भाषा लिखी और अनेक उपयुक्त दृष्टान्त देकर सुधार का अभिप्राय प्रकाशित किया है कि जिसको सब कोई सुख से समझ के अपना अपना स्वभाव सुधार के सब उत्तम व्यवहारों को सिद्ध किया करें ।।

सं. १६३६
फाल्गुन शुक्ला १५

दयानन्दसरस्वती
काशी

ओ३म्

सर्वान्तर्यामिणेऽखिलगुरवे विश्वम्भराय नमः

अथ व्यवहारभानुः

ऐसा कौन मनुष्य होगा कि जो सुखों को सिद्ध करनेवाले व्यवहारों को छोड़कर उलटा आचरण करे । क्या यथायोग्य व्यवहार किये विना किसी को सर्व सुख हो सकता है ? क्या कोई मनुष्य अपनी और पुत्रादि सम्बन्धियों की उन्नति न चाहता हो ? इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि श्रेष्ठ-शिक्षा और धर्मयुक्त व्यवहारों से वर्तकर सुखी होके दुःखों का विनाश करें । क्या कोई मनुष्य अच्छी शिक्षा से धर्मार्थ, काम और मोक्ष फलों को सिद्ध नही कर सकता ? और इसके विना पशु के समान होकर दुःखी नहीं रहता है ? इसलिये सब मनुष्यों को सुशिक्षा से युक्त होना अवश्य है । जिसलिये यह बालक से लेके वृद्धपर्य्यन्त मनुष्यों के सुधार के अर्थ (व्यहारसम्बन्धी शिक्षा का) विधान किया जाता है इसलिए यहां वेदादिशास्त्रों के प्रमाण भी कहीं कहीं दीखेंगे । क्योंकि उनके अर्थों को समझने का ठीक ठीक समार्थ्य बालक आदि का नहीं रहता । जो विद्वान् प्रमाण देखना चाहे तो वेदादि अथवा मेरे बनाये ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि ग्रन्थों में देख लेवे ।

प्रश्न-कैसे पुरुष पढ़ाने और शिक्षा करनेहारे होने चाहियें ?

उत्तर-पढानेवालों के लक्षणः-

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षाधर्मनित्यता ।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ।। १ ।।

जिसको परमात्मा और जीवात्मा का यथार्थ ज्ञान, जो आलस्य को छोड़कर सदा उद्योगी, सुखदुःखादि का सहन, धर्म का नित्य सेवन करने वाला, जिसको कोई पदार्थ धर्म से छुड़ा कर अधर्म की ओर न खेंच सके वह **'पण्डित'** कहाता है ।। १ ।।

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते ।
अनास्तिकः श्रद्धधान एतत् पण्डितलक्षणम् ।। २ ।।

जो सदा प्रशस्त धर्मयुक्त कर्मों का करने और निन्दित अधर्मयुक्त कर्मों को कभी न सेवनेहारा, न कदापि ईश्वर, वेद और धर्म का विरोधी और परमात्मा, सत्यविद्या और धर्म में दृढ़ विश्वासी है वही मनुष्य **'पण्डित'** के लक्षणयुक्त होता है ।। २ ।।

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति
विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।
नासंपृष्टो ह्युपयुंक्ते परार्थे
तत्प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ।। ३ ।।

जो वेदादि शास्त्र और दूसरे के कहे अभिप्राय को शीघ्र ही जानने, दीर्घकाल पर्य्यन्त वेदादि शास्त्र और धार्मिक विद्वानों के वचनों को ध्यान देकर सुनके ठीक ठीक समझकर निरभिमानी शान्त होकर दूसरों से प्रत्युत्तर करने, परमेश्वर से लेके, पृथिवी पर्य्यन्त पदार्थों को जानके उनसे उपकार लेने में तन, मन, धन से प्रवर्तमान होकर काम

क्रोध, लोभ, मोह,भय, शोकादि दुष्ट गुणों से पृथक् वर्तमान किसी के पूछने वा दोनों के सम्वाद में विना प्रसंग के अयुक्त भाषणादि व्यवहार न करने वाला है, वहीं 'पण्डित' का प्रथम बुद्धिमत्ता का लक्षण है ।। ३ ।।

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ।। ४ ।।

जो मनुष्य प्राप्ति होने के अयोग्य पदार्थों की कभी इच्छा नहीं करते, अदृष्ट वा किसी पदार्थ के नष्ट भ्रष्ट हो जाने पर शोक करने की अभिलाषा नहीं करते और बड़े बड़े दुःखों से युक्त व्यवहारों की प्राप्ति में मूढ़ होकर नहीं घबराते हैं वे मनुष्य 'पण्डितों' की बुद्धि से युक्त कहाते हैं ।। ४ ।।

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् ।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ।।५।।

जिसकी वाणी सब विद्याओं में चलनेवाली, अत्यन्त अद्‌भुत विद्याओं की कथाओं को करने, विना जाने पदार्थों को तर्क से शीघ्र जानने जनाने, सुनी विचारी विद्याओं को सदा उपस्थित रखने और जो सब विद्याओं के ग्रन्थों को अन्य मनुष्यों को शीघ्र पढ़ानेवाला मनुष्य है वही 'पण्डित' कहाता है ।। ५ ।।

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।
असंभिन्नार्य्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ।। ६ ।।

जिसकी सुनी हुई, पठित विद्या बुद्धि के सदा अनुकूल और बुद्धि और क्रिया सुनी पढ़ी विद्याओं के अनुसार जो, धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों की मर्यादा का रक्षक और दुष्ट डाकुओं की रीति को विदीर्ण करनेहारा मनुष्य है वही **'पण्डित'** नाम धराने के योग्य होता है ।। ६ ।।

जहां ऐसे सत् पुरुष पढ़ाने और बुद्धिमान् पढ़ने वाले होते हैं वहां विद्या, धर्म की वृद्धि होकर सदा आनन्द ही बढ़ता जाता है और जहां निम्नलिखित मूढ़ पढ़ने पढ़ानेहारे होते हैं वहां अविद्या और अधर्म्म की उन्नति होकर दुःख ही बढ़ता जाता है ।

प्रश्न-कैसे मनुष्य पढ़ाने और उपदेश करने वाले न होने चाहियें ?

उत्तर- अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः ।
अर्थांश्चाकर्म्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥१॥

जो किसी विद्या को न पढ और किसी विद्वान् का उपदेश न सुनकर बड़ा घमण्डी दरिद्र होकर बड़े बड़े कामों की इच्छा करनेहारा और विना परिश्रम के पदार्थों की प्राप्ति में उत्साही होता है, उसी मनुष्य को विद्वान् लोग मूर्ख कहते हैं ।। १ ।।

दृष्टान्त -

जैसे -एक कोई दरिद्र शेखसेली नामक किसी ग्राम में था वहा किसी नगर का बनिया दश रुपये उधार लेकर घी लेने आया था । वह घी लेकर घड़े में भरकर किसी मजूर की खोज में था । वहा शेखसेली आ निकला, उसने पूछा कि इस घड़े को तीन कोस पर ले जाने की क्या

मजूरी लेगा । उसने कहा कि आठ आने, आगे बनिये ने कहा कि चार आने लेना हो तो ले । उसने कहा- अच्छा । शेखसेली घड़ा उठा आगे चला और बनिया पीछे पीछे चलता हुआ मन में मनोरथ करने लगा कि दश रुपयों के इस घी के ग्यारह रुपये आवेंगे, दश रुपया सेठ को दूंगा और एक रुपया घर की पूंजी रहेगी वैसे ही दश फेरे में दश रुपये हो जायेंगे । इसी प्रकार दश से सौ, सौ से सहस्र, सहस्र से लक्ष, लक्ष से करोड़ । फिर करोड़ से सब जगह कोठियां करूंगा और सब राजे लोग मेरे कर्जदार हो जायेंगे, इत्यादि बड़े बड़े मनोरथ करने लगा और शेखसेली ने विचारा कि चार आने की रूई ले सूत कात कर बेचूंगा, आठ आना मिलेगा, फिर आठ आना से एक रुपया होगा, फिर वैसे ही एक से दो रुपये होंगे, उनसे एक बकरी लूंगा, जब उसके बच्चे कच्चे होंगे तब उनको बेच एक गाय लूंगा, उसके बच्चे कच्चे बेच एक भैंस लूंगा, उसके बच्चे कच्चे बेच एक घोड़ी लूंगा, उसके बच्चे कच्चे बेच एक हथिनी लूंगा और उसके बच्चे कच्चे बेच दो बीवियां ब्याहूंगा । एक का नाम प्यारी और दूसरी का नाम बेप्यारी रक्खूंगा । जब प्यारी के लड़के गोद में बैठने आवेंगे तब कहूँगा बच्चे आओ बैठो और जब बेप्यारी के लड़के आकर कहेंगे कि हम भी बैठें तब कहूँगा उँहू उँहू उँहू। नहीं नहीं, ऐसा कहकर सिर हिला दिया । घड़ा गिर पड़ा, फूट गया और घी भूमि पर फैल गया, बनिया रोने लगा और शेखसेली भी रोने लगा । बनिये ने शेखसेली को धमकाया कि घी क्यों गिरा दिया और रोता क्यों है ? तेरा क्या नुकसान हुआ ? (शेखसेली) तेरा क्या बिगाड़ हुआ ? तू क्यों रोता है ? (बनिया) मैंने दश रुपये उधार लेकर प्रथम

ही घी खरीदा था उस पर बड़े बड़े लाभ का विचार किया था, वह मेरा सब बिगड़ गया मै क्यों न रोऊं ! (शेखसेली) तेरी तो दश रुपये आदि की ही हानि हुई मेरा तो घर ही बना बनाया बिगड़ गया, मैं क्यों न रोऊं ? (बनिया) क्या तेरे रोने से मेरा घी आ जायेगा ? (शेखसेली) अच्छा तो तेरे रोने से मेरा घर बन जायेगा, तू बड़ा मूर्ख है । (बनिया) तू मूर्ख, तेरा बाप। दोनों आपस में एक दूसरे को मारने लगे, फिर मारपीट कर शेखसेली अपने घर की ओर भाग गया और बनिये ने धूर में मिले हुये घी को ठीकरे में उठाकर अपने घर की राह ली । ऐसे ही स्वसामर्थ्य के विना अशक्य मनोरथ किया करना मूर्खों का काम है।

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ।। २ ।।

(महाभारत उद्योगपर्व विदुरप्रजागर ।। अ० ३२)

जो विना बुलाये जहां तहां सभादि स्थानों में प्रवेश कर सत्कार और उच्चासन को चाहे वा ऐसे रीति से बैठे कि सब सत्पुरुषों को उसका आचरण अप्रिय विदित हो, विना पूछे बहुत अण्डवण्ड बके, अविश्वासियों में विश्वासी होकर सुखों की हानि कर लेवे वही मनुष्य 'मूढबुद्धि' और मनुष्यों में नीच कहाता है ।। २ ।।

जहां ऐसे ऐसे मूढ़ मनुष्य पठनपाठन आदि व्यवहारों को करनेहारे होते हैं वहां सुखों का तो दर्शन कहां ? किन्तु दु:खों की भरमार तो हुआ ही करती है । इसलिये बुद्धिमान् लोग ऐसे ऐसे मूढ़ों

का प्रसंग वा इनके साथ पठनपाठनक्रिया को व्यर्थ समझ कर पूर्वोक्त धार्मिक विद्वानों का प्रसङ्ग और उन्हीं से विद्या का अभ्यास किया करें और सुशील बुद्धिमान् विद्यार्थियों ही को पढ़ाया करें । ये विद्वान् और मूर्ख के लक्षणविधायक श्लोक विदुरप्रजागर के ३२ अध्याय में एक ही ठिकाने लिखे हैं ।।

जो विद्या पढ़ें और पढ़ावें वे निम्नलिखित दोषयुक्त न हों :-

आलस्यं मदमोहौ च चापल्यं गोष्ठिरेव च ।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च ।। ३ ।।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ।
सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम् ।। ४ ।।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम् ।।

आलस्य; नशा करना, मूढ़ता; चपलता; व्यर्थ इधर उधर की अण्डबण्ड बातें करना; जड़ता-कभी पढ़ना कभी न पढ़ना; अभिमान और लोभ - लालच ये सात (७) विद्यार्थियों के लिए विद्या के विरोधी 'दोष' हैं । क्योंकि जिसको सुख चैन करने की इच्छा है उसको विद्या कहां और जिसका चित्त विद्याग्रहण करने कराने में लगा है उसको विषयसम्बन्धी सुख चैन कहां ? इसलिये विषयसुखार्थी विद्या को छोड़े और विद्यार्थी विषयसुख से अवश्य अलग रहें नहीं तो परमधर्म्मरूप विद्या का पढ़ना पढ़ाना कभी नहीं हो सकता। ये साढे तीन श्लोक भी महाभारत विदुरप्रजागर अध्याय ३६ मे लिखे हैं ।

प्रश्न-कैसे मनुष्य विद्याप्राप्ति कर और करा सकते हैं ?

उत्तर-ब्रह्मचर्यस्य च गुणं शृणु त्वं वसुधाधिप !
आजन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह ।। १ ।।
न तस्य किञ्चिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप !
बह्वयः कोट्यस्त्वृषीणां च ब्रह्मलोके वसन्त्युत ।। २ ।।
सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम् ।।
ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन् सर्वपापान्युपासितम् ।। ३ ।।

भीष्मजी युधिष्ठिर से कहते हैं कि - हे राजन् ! तू ब्रह्मचर्य्य के गुण सुन । जो मनुष्य इस संसार में जन्म से लेकर मरणपर्य्यन्त ब्रह्मचारी होता है ।। १ ।। उसको कोई शुभगुण अप्राप्य नहीं रहता ऐसा तू जान कि जिसके प्रताप से अनेक क्रोड़ों ऋषि ब्रह्मलोक अर्थात् सर्वानन्दस्वरूप परमात्मा में वास करते और इस लोक में भी अनेक सुखों को प्राप्त होते हैं।। २ ।। जो निरन्तर सत्य में रमण, जितेन्द्रिय, शान्तात्मा, उत्कृष्ट, शुभगुणस्वभावयुक्त और रोगरहित पराक्रमयुक्त शरीर, ब्रह्मचर्य अर्थात् वेदादि सत्य शास्त्र और परमात्मा की उपासना का अभ्यास कर्मादि करते हैं वे सब बुरे काम और दुःखों को नष्ट कर सर्वोत्तम धर्म्मयुक्त कर्म्म और सब सुखों की प्राप्ति करानेहारे होते और इन्हीं के सेवन से मनुष्य उत्तम अध्यापक और उत्तम विद्यार्थी हो सकते हैं ।। ३ ।।

प्रश्न- विद्या पढ़ने और पढ़ाने वालों के विरोधी व्यवहार कौन कौन हैं ?

उत्तर अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः ।।

जो विद्या और विद्वानों की सेवा न करना, अतिशीघ्रता और अपनी वा अन्य पुरुषों की प्रशंसा में प्रवृत्त होना है, ये तीन विद्या के शत्रु हैं ?, इनको पढ़ने और पढ़ानेहारे जो हैं, वे छोड़ दें ।

प्रश्न-शूरवीर किनको कहते हैं ?

उत्तर- वेदाऽध्ययनशूराश्च शूराश्चाऽध्ययने रताः ।
गुरुशुश्रूषया शूराः पितृशुश्रूषयाऽपरे ।। १ ।।
मातृशुश्रूषया शूरा भैक्ष्यशूरास्तथाऽपरे ।
अरण्ये गृहवासे च शूराश्चाऽतिथिपूजने ।।२ ।।

जो कोई मनुष्य वेदादि शास्त्रों के पढ़ने पढ़ाने में शूर, जो दुष्टों के दलन और श्रेष्ठों के पालन में शूरवीर अर्थात् दृढ़ोत्साही उद्योगी, जो निष्कपट परोपकारक अध्यापकों की सेवा करके शूर, जो अपने जनक की सेवा करके शूर ।। १ ।। जो माता की परिचर्या से शूर, जो संन्यासाश्रम से युक्त अतिथिरूप होकर सर्वत्र भ्रमण करके परोपकार करने के लिए भिक्षावृत्ति में शूर, जो वानप्रस्थाश्रम के कर्म्म और जो गृहाश्रम के व्यवहार में शूर होते हैं वे ही सब सुखों के लाभ करने कराने में अत्युत्तम होके धन्यवाद के पात्र होते हैं कि जो अपना तन, मन, धन, विद्या और धर्मादि शुभगुण ग्रहण करने में सदा उपयुक्त करते हैं ।। २ ।।

प्रश्न-शिक्षा किसको कहते हैं। ?

उत्तर-जिससे मनुष्य विद्या आदि शुभगुणों की प्राप्ति और अविद्यादि दोषों को छोड़ के सदा आनन्दित हो सकें, वह शिक्षा कहाती है ।

प्रश्न-विद्या और अविद्या किसको कहते है। ?

उत्तर-जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जानकर उससे उपकार लेके अपने और दूसरों के लिए सब सुखों को सिद्ध कर सकें वह 'विद्या' और जिससे पदार्थों के स्वरूप को अन्यथा जानकार अपना और पराया अनुपकार करे वह 'अविद्या' कहाती है ।

प्रश्न-मनुष्यों को विद्या की प्राप्ति और अविद्या के नाश के लिए क्या क्या कर्म करना चाहिये ?

उत्तर-वर्णोच्चारण से लेके, वेदार्थज्ञान के लिए ब्रह्मचर्य आदि कर्म करना योग्य है ।

प्रश्न-ब्रह्मचारी किसको कहते हैं ?

उत्तर-जो जितेन्द्रिय होके ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या के लिये, आचार्य्यकुल में जाकर विद्या-ग्रहण के लिए प्रयत्न करे वह 'ब्रह्मचारी' कहाता है ।

प्रश्न-आचार्य्य किसको कहते हैं ?

उत्तर-जो विद्यार्थियों को अत्यन्त प्रेम से विद्या और धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षा प्राप्ति के लिए तन, मन और धन से प्रयत्न करे उसको 'आचार्य' कहते हैं ।

प्रश्न-अपने सन्तानों के लिए माता, पिता और आचार्य क्या क्या शिक्षा करें ?

उत्तर-मातृमान् पितृमानाचार्य्यवान् पुरुषो वेद ।।

- शतपथब्राह्मण ।।

अहोभाग्य उस मनुष्य का है कि जिसका जन्म धार्मिक विद्वान् माता पिता और आचार्य के सम्बन्ध में हो क्योंकि इन तीनों की ही शिक्षा से उत्तम मनुष्य होता है । ये अपने सन्तान और विद्यार्थियों को अच्छी भाषा बोलने, खाने, पीने, बैठने, उठने, वस्त्र धारने, माता आदि के मान्य करने, उनके सामने यथेष्टाचारी न होने, विरुद्ध चेष्टा न करने आदि के लिए प्रयत्न से नित्यप्रति उपदेश किया करें और जैसा जैसा उसका सामर्थ्य बढ़ता जाये वैसे वैसे उत्तम बातें सिखलाते जायं । इसी प्रकार लड़के और लड़कियों को पांच वा आठ वर्ष की अवस्था पर्यन्त माता पिता की और इसके उपरान्त आचार्य की शिक्षा होनी चाहिये ।

प्रश्न-क्या जैसी चाहें वैसी शिक्षा करें ?

उत्तर-नहीं, जो अपने पुत्र, पुत्री और विद्यार्थियों को सुनावें कि सुन मेरे बेटे बेटियां और विद्यार्थी ! तेरा शीघ्र विवाह करेंगे, तू इसकी दाढ़ी मूंछ पकड़ ले, इसका जूड़ा पकड़ ले, ओढ़नी फेंक दे, धौल मार, गाली दे, इसका कपड़ा छीन ले, पगड़ी वा टोपी फेंक दे, खेल,कूद, हँस, रो, तुम्हारे विवाह में फुलवारी निकालेंगे इत्यादि कुशिक्षा करते हैं उनको माता, पिता और आचार्य न समझने चाहियें किन्तु सन्तान और शिष्यों के पक्के शत्रु और दुःखदायक हैं, क्योंकि जो बुरी चेष्टा देखकर लड़कों

को न घुड़कते और न दण्ड देते हैं। वे क्योंकर माता पिता और आचार्य हो सकते हैं, और जो अपने सामने यथातथा बकने, निर्लज्ज होने, व्यर्थ चेष्टा करने आदि बुरे कर्मों से हटाकर विद्या आदि शुभ गुणों के लिए उपदेश कर तन, मन, धन लगा के उत्तम विद्या व्यवहार का सेवन कराकर अपने सन्तानों को सदा श्रेष्ठ करते जाते हैं, वे माता पिता और आचार्य कहाकर धन्यवाद के पात्र हैं फिर वे अपने सन्तान और शिष्यों को ईश्वर की उपासना, धर्म, अधर्म, प्रमाण, प्रमेय, सत्य, मिथ्या, पाखण्ड, वेद, शास्त्र आदि के लक्षण और उनके स्वरूप का यथावत् बोध करा और सामर्थ्य के अनुकूल उनको वेदशास्त्रों के वचन भी कण्ठस्थ कराकर विद्या पढ़ने, आचार्य के अनुकूल रहने की रीति भी जना देवें कि जिससे विद्याप्राप्ति आदि प्रयोजन निर्विघ्न सिद्ध हों, वे ही "माता पिता और आचार्य" कहाते हैं ।।

प्रश्न-विद्या किस किस प्रकार और किस साधन से होती है ?

उत्तर-चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति । आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति ।।

महाभाष्य अ० १।१।१। आ० १ ।

विद्या चार प्रकार से आती है -आगम, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहारकाल ।

'आगमकाल' उसको कहते हैं कि जिससे मनुष्य पढ़ाने वाले से सावधान होकर ध्यान देके विद्यादि पदार्थ ग्रहण कर सके ।

'स्वाध्यायकाल' उसको कहते हैं कि जो पठन समय में आचार्य के मुख से शब्द, अर्थ और सम्बन्धों की बातें प्रकाशित हों उनको एकान्त में स्वस्थचित्त होकर पूर्वापर विचार के ठीक ठीक हृदय में दृढ कर सके ।

'प्रवचनकाल' उसको कहते हैं कि जिससे दूसरे को प्रीति से विद्याओं को पढ़ा सकना ।

'व्यवहारकाल' उसको कहते हैं कि जब अपने आत्मा में सत्यविद्या होती है तब यह करना, यह न करना है वह ठीक ठीक सिद्ध होके वैसा ही आचरण करना हो सके, ये चार प्रयोजन हैं ।
तथा अन्य भी चार कर्म विद्याप्राप्ति के लिए हैं - श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार ।

'श्रवण' उसको कहते हैं कि आत्मा मन के और मन श्रोत्र इन्द्रिय के साथ यथावत् युक्त करके अध्यापक के मुख से जो जो अर्थ और सम्बन्ध के प्रकाश करनेहारे शब्द निकलें उनको श्रोत्र से मन और मन से आत्मा में एकत्र करते जाना ।

'मनन' उसको कहते हैं कि जो जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध आत्मा में एकत्र हुए हैं उनका एकान्त में स्वस्थचित्त होकर विचार करना कि कौन शब्द किस शब्द, कौन अर्थ किस अर्थ और कौन सम्बन्ध किस सम्बन्ध के साथ सम्बन्ध अर्थात् मेल रखता और इनके मेल में किस प्रयोजन की सिद्धि और उलटे होने में क्या क्या हानि होती है ।

'निदिध्यासन' उसको कहते हैं कि जो जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध सुने विचारे हैं वे ठीक ठीक हैं वा नहीं ? इस बात की विशेष परीक्षा करके दृढ़ निश्चय करना ।

'साक्षात्कार' उसको कहते हैं कि जिन अर्थों के शब्द और सम्बन्ध सुने विचारे और निश्चित किये हैं उनको यथावत् ज्ञान और क्रिया से प्रत्यक्ष करके व्यवहारों की सिद्धि से अपना और पराया उपकार करना आदि विद्या की प्राप्ति के साधन हैं ।

प्रश्न-आचार्य के साथ विद्यार्थी कैसा कैसा वर्तमान करें और कैसा कैसा न करें ?

उत्तर-सत्य बोले, मिथ्या न बोले, सरल रहे, अभिमान न करे, आज्ञा पालन करे, आज्ञा भंग न करे, स्तुति करे, निन्दा न करे, नीचे आसन पर बैठे, ऊँचे न बैठे, शान्त रहे, चपलता न करे, आचार्य की ताडना पर प्रसन्न रहे, क्रोध कभी न करे, जब कुछ वे पूछें हाथ जोड़कर नम्र होकर उत्तर दे, घमण्ड से न बोले, जब वे शिक्षा करें, चित्त देकर सुने, ठट्ठे में न उड़ावे, शुद्ध शरीर वस्त्र रक्खे, मैले कभी न रक्खे, जो कुछ प्रतिज्ञा करे उसको पूरी करे, जितेन्द्रिय होवे, लम्पटपन व्यभिचार कभी न करे, उत्तमों का सदा मान करे, अपमान कभी न करे, उपकार मान के कृतज्ञ होवे, किसी का अनुपकारी होकर कृतघ्न न होवे, पुरुषार्थी रहे, आलसी कभी न हो, जिस जिस कर्म से विद्याप्राप्ति हो उस उस को करता जाय, जो जो बुरे काम,क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक आदि विद्याविरोधी हों उनको छोड़कर उत्तम गुणों की कामना, बुरे कामों पर क्रोध, विद्याग्रहण में लोभ, सज्जनों में मोह, बुरे

कामों से भय, अच्छे काम न होने में शोक सदा करके विद्यादि शुभगुणों से आत्मा और जितेन्द्रिय हो वीर्य आदि धातुओं की रक्षा से शरीर का बल सदा बढ़ाता जाय ।।

प्रश्न-आचार्य विद्यार्थियों के साथ कैसे वर्त्तें ?

उत्तर-जिस प्रकार से विद्यार्थी विद्वान्, सुशील, निरभिमान, सत्यवादी, धर्मात्मा, आस्तिक, निरालस्य, उद्योगी, परोपकारी, वीर, धीर, गम्भीर, पवित्राचरण शान्तियुक्त, दमनशील, जितेन्द्रिय, ऋजु, प्रसन्नवदन होकर माता, पिता, आचार्य, अतिथि, बन्धु, मित्र, राजा, प्रजा आदि के प्रियकारी हों, जब कभी किसी से बातचीत करें तब जो जो उसके मुख से अक्षर, पद, वाक्य निकलें उनको शांत होकर सुनके प्रत्युत्तर देवें । जब कभी कोई बुरी चेष्टा, मलिनता, मैले वस्त्रधारण, बैठने उठने में विपरीताचरण, निन्दा, ईर्ष्या, द्रोह, विवाद, लड़ाई, बखेड़ा, चुगली, किसी पर मिथ्या दोष लगाना, चोरी, जारी अनभ्यास, आलस्य, अतिनिद्रा, अतिभोजन, अतिजागरण, व्यर्थ खेलना, इधर उधर अट्ट सट्ट मारना, विषयसेवा बुरे व्यवहारों की कथा करना वा सुनना, दुष्ट के संग बैठना आदि दुष्ट व्यवहार करे तो उसको यथाऽपराध कठिन दण्ड देवे । इसमें प्रमाणः-

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः ।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः ।। १ ।।

महाभाष्य अ० ८ । पा० १ । सू० ८ । आ० १ ।।

आचार्य लोग अपने विद्यार्थियों को विद्या और सुशिक्षा होने के लिए प्रेमभाव से अपने हाथों से ताड़ना करते हैं क्योंकि सन्तान और विद्यार्थियों का जितना लाडन करना है उतना ही उनके लिए बिगाड़ और जितनी ताडना करनी है उतना ही उनके लिए सुखलाभ है परन्तु ऐसी ताडना न करे कि जिससे अंग भंग वा मर्म में लगने से विद्यार्थी लोग व्यथा को प्राप्त हो जायं ।। १ ।।

प्रश्न-क्यों जी !

पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं न पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं दन्ताकटाकटेति किं कर्त्तव्यम् ?

हुड़दंगा कहता है कि जो पढ़ता है वह भी मरता है और जो नहीं पढ़ता वह भी मरता है फिर पढ़ने पढ़ाने में दाँत कटाकट क्यों करना ?

उत्तर-न विद्यया विना सौख्यं नराणां जायते ध्रुवम् ।
अतो धर्म्मार्थमोक्षेभ्यो विद्याभ्यासं समाचरेत् ।। १ ।।

सज्जन कहता है कि सुन भाई हुड़दंगे ! जो तू जानता है सो विद्या का फल नहीं कि विद्या के पढ़ने से जन्म, मरण, आंख से देखना, कान से सुनना आदि ईश्वरीय नियम अन्यथा हो जायें किन्तु विद्या से यथार्थज्ञान होकर यथायोग्य व्यवहार करने कराने से आप और दूसरों को आनन्दयुक्त करना 'विद्या का फल' है क्योंकि विना विद्या के किसी मनुष्य को निश्चल सुख नहीं हो सकता। क्या भया कि किसी को क्षण भर सुख हुआ, न हुआ सा है । किसी का सामर्थ्य नहीं कि अविद्वान् होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के स्वरूप को यथावत् जानकर सिद्ध

कर सके । इसलिए सब को उचित है कि इनकी सिद्धि के लिए विद्या का अभ्यास तन, मन, धन से किया और कराया करें ।। १ ।।

हुड़दंगा-हम देखते हैं कि बहुत से मनुष्य विद्या पढ़े हुए दरिद्र और भीख मांगते तथा विना पढ़े हुए राज्य धन का आनन्द भोगते हैं।

सज्जन-सुनो प्रिय ! सुख दुःख का योग आत्मा में हुआ करता है । जहाँ विद्यारूप सूर्य्य का अभाव और अविद्यान्धकार का भाव है वहां दुःखों की तो भरमार, सुख की क्या ही कथा कहना है ? और जहां विद्यार्क प्रकाशित होकर अविद्यान्धकार नष्ट हो जाता है, उस आत्मा में सदा आनन्द का योग और दुःख को ठिकाना भी नहीं मिलता है । हुड़दंगा शिर धुनकर चुप हो गया ।

प्रश्न-आचार्य किस रीति से विद्या शिक्षा का ग्रहण करावे और विद्यार्थी करें ?

उत्तर-आचार्य समाहित होकर ऐसी रीति से विद्या और सुशिक्षा करें कि जिससे उसके आत्मा के भीतर सुनिश्चित अर्थ होकर उत्साह बढ़ता जाय, ऐसी चेष्टा वा कर्म कभी न करें कि जिसको देख वा करके विद्यार्थी अधर्मयुक्त हो जावें । दृष्टान्त, हस्तक्रिया, यन्त्र, कलाकौशल विचार आदि से विद्यार्थियों के आत्मा में पदार्थ इस प्रकार साक्षात् करावें कि एक के जानने से हजारों पदार्थ यथावत् जानते जायं, अपने आत्मा में इस बात का ध्यान रक्खें कि जिस जिस प्रकार से संसार में विद्या धर्माचरण की बढ़ती और मेरे पढ़ाये मनुष्य अविद्वान् और कुशिक्षित होकर मेरी निन्दा का कारण न हों जायं कि मैं ही विद्या के रोकने और अविद्या की वृद्धि का निमित्त गिना जाऊं । ऐसा न हो कि सर्वात्मा

परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव से मेरे गुण कर्म स्वभाव विरुद्ध होने से मुझको महादुःख भोगना पड़े । धन्य वे मनुष्य हैं कि जो अपने आत्मा के समान सुख में सुख और दुःख में दुःख अन्य मनुष्यों का जानकर धार्मिकता को कदापि नहीं छोड़ते, इत्यादि उत्तम व्यवहार आचार्य लोग नित्य करतें जायं । विद्यार्थी लोग भी जिन कर्मों से आचार्य की प्रसन्नता होती जाय वैसे कर्म करें जिनसे उसका आत्मा संन्तुष्ट होकर चाहे कि ये लोग विद्या से युक्त होकर सदा प्रसन्न रहें । रात-दिन विद्या ही के विचार में लगकर एक दूसरे के साथ प्रेम से परस्पर विद्या को बढ़ाते जावें । जहां विषय वा अधर्म की चर्चा भी होती हो वहां कभी खड़े भी न रहें । जहा जहां विद्यादि व्यवहार और धर्म का व्याख्यान होता हो वहां से अलग कभी न रहें । भोजन छादन ऐसी रीति से करें कि जिससे कभी रोग, वीर्यहानि वा प्रमाद न बढ़े । जो जो बुद्धि के नाश करनेहारे नशा के पदार्थ हों उनका ग्रहण कभी न करें, किन्तु, जो जो ज्ञान बढ़ाने और रोग नाश करनेहारे पदार्थ हों उनका सेवन सदा किया करें । नित्यप्रति परमेश्वर का ध्यान, योगाभ्यास, बुद्धि का बढ़ाना, सत्य धर्म की निष्ठा और अधर्म का सर्वथा त्याग करते रहें । जो जो पढ़ने में विघ्नरूप कर्म हों उनको छोड़के पूर्णविद्या की प्राप्ति करें, ये दोनों के गुण कर्म हैं ।

प्रश्न-सत्य और असत्य का निश्चय किस प्रकार से होता है क्योंकि जिसको एक सत्य कहता है दूसरा उसी को मिथ्या बतलाता है उसके निर्णय करने में क्या क्या निश्चित साधन हैं ?

उत्तर-पांच -

१ ईश्वर, उसके गुण, कर्म, स्वभाव,और वेदविद्या ।

२ सृष्टिक्रम ।

३ प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण ।

४ आप्तों का आचार, उपदेश, ग्रन्थ और सिद्धान्त ।

५ और अपने आत्मा की साक्षी, अनुकूलता, जिज्ञासा, पवित्रता और विज्ञान ।

१ **'ईश्वरादि से परीक्षा'** करना उसको कहते हैं कि जो जो ईश्वर के न्याय आदि गुण पक्षपातरहित सृष्टि बनाने का कर्म और सत्य, न्याय, दयालुता, परोपकारिता आदि स्वभाव और वेदोपदेश से सत्य धर्म ठहरे वही सत्य और धर्म और जो जो असत्य और अधर्म ठहरे वही असत्य और अधर्म है । जैसे कोई कहे कि विना कारण और कर्त्ता के कार्य होता है सो सर्वथा मिथ्या जानना। इससे यह सिद्ध होता है कि जो सृष्टि की रचना करनेहारा पदार्थ है वही ईश्वर और उसके गुण-कर्म-स्वभाव वेद और सृष्टिक्रम से ही निश्चित जाने-जाते हैं ।

२ **'सृष्टिक्रम'** उसको कहते हैं कि जो सृष्टिक्रम अर्थात सृष्टि के गुण, कर्म और स्वभाव से विरुद्ध हो वह मिथ्या और अनुकूल हो वह सत्य कहाता है । जैसे कोई कहे कि विना मा बाप के लड़का, कान से देखना, आंख से बोलना आदि होता वा हुआ है । ऐसी ऐसी बातें सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से मिथ्या और माता पिता से सन्तान, कान से सुनना और आंख से देखना आदि सृष्टिक्रम के अनुकूल होने से सत्य ही हैं ।

३ **'प्रत्यक्ष आदि आठ प्रमाणों से परीक्षा'** उसको कहते हैं कि जो जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ठीक ठीक ठहरे वह सत्य और जो विरुद्ध ठहरे वह मिथ्या समझना चाहिये। जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह क्या है ? दूसरे ने कहा कि पृथिवी यह **'प्रत्यक्ष'** है । इसको देखकर इसके कारण का निश्चय करना **'अनुमान'** । जैसे विना बनानेहारे के घर नहीं बन सकता वैसा ही सृष्टि का बनानेहारा ईश्वर भी बड़ा कारीगर है, यह दृष्टान्त **'उपमान'**, सत्योपदेष्टाओं का उपदेश **'शब्द'**। भूतकालस्थ पुरुषों की चेष्टा, सृष्टि आदि पदार्थों की कथा **'ऐतिह्य'** । एक बात सुनकर दूसरी बात को विना सुने कहे प्रसंग से जान लेना **'अर्थापत्ति'** । कारण से कार्य होना **'सम्भव'** और किसी ने किसी से कहा कि जल ले आ । उसने वहां जल के अभाव को देखकर तर्क से जाना कि जहां जल है वहां से लेआ के देना चाहिये यह **'अभाव'** प्रमाण कहाता है ।

इन आठ प्रमाणों से जो जो विपरीत न हो वह वह सत्य और जो जो उलटा हो वह वह मिथ्या है ।

४ **'आप्तों के आचार और सिद्धान्त से परीक्षा'** करना उसको कहते हैं कि जो सत्यवादी, सत्यकारी, सत्यमानी, पक्षपातरहित, सब के हितैषी, विद्वान्, सबके सुख के लिए प्रयत्न करें वे धार्मिक लोग आप्त कहाते हैं। जो जो उनके उपदेश, आचार, ग्रन्थ और सिद्धान्त से युक्त हो, वह वह सत्य और जो जो विपरीत है वह असत्य है।

५ **'आत्मा से परीक्षा'** उसको कहते हैं कि जो जो अपना आत्मा

अपने लिये चाहे सो सब के लिए चाहना और जो जो न चाहे सो सो किसी के लिए न चाहना । जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा मन में वैसा क्रिया में होने को, जानने जनाने की इच्छा, शुद्ध भाव और विद्या से देखके सत्य और असत्य का निश्चय करना चाहिए ।

इन पांच प्रकार की परीक्षाओं से पढ़ाने और पढ़नेहारे तथा सब मनुष्य सत्याऽसत्य का निर्णय करके धर्म का ग्रहण और अधर्म का परित्याग करें और करावें ।

प्रश्न-धर्म और अधर्म किसको कहते हैं?

उत्तर-जो पक्षपातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग पाँचों परीक्षाओं के अनुकूलाचरण, ईश्वराज्ञा का पालन, परोपकार करना रूप '**धर्म**' और जो इससे विपरीत वह '**अधर्म**' कहाता है । क्योंकि जो सबके अविरुद्ध वह धर्म और जो परस्पर विरुद्धाचरण सो अधर्म क्यों कर न कहावे ? देखो ! किसी ने किसी से पूछा कि तेरा क्या मत है ? उसने उत्तर दिया कि जो मैं मानता हूं। उससे उसने पूछा कि जो मैं मानता हूं वह क्या है ? उसने कहा कि अधर्म । यही पक्षपात अधर्म का स्वरूप है । और जब तीसरे ने दोनों से पूछा कि सत्य बोलना धर्म अथवा असत्य ? तब दोनों ने उत्तर दिया कि सत्य बोलना धर्म और असत्य बोलना अधर्म है, इसी का नाम धर्म जानो, परन्तु यहां पांच परीक्षा की युक्ति से सत्य और असत्य का निश्चय करना योग्य है ।

प्रश्न-जब-जब सभा आदि व्यवहारों में जावें, तब-तब कैसे-कैसे वर्तें ?

उत्तर-जब सभा में जावें तब दृढ़ निश्चय कर लें कि मैं सत्य को जिताऊं और असत्य को हराऊंगा । अभिमान न करें, अपने को बड़ा न माने । अपनी बात का कोई खण्डन करे उस पर क्रुद्ध वा अप्रसन्न न हो । जो कोई कहे उसका वचन ध्यान देकर सुन के जो उसमें कुछ असत्य भान हो तो उस अंश का खण्डन अवश्य करें और जो सत्य हो तो प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करें बड़ाई छोटाई न गिने, व्यर्थ बकवाद न करें न कभी मिथ्या का पक्ष करें और सत्य को कदापि न छोड़ें । ऐसी रीति से बैठे वा उठे कि किसी को बुरा विदित न हों । सर्वहित पर दृष्टि रक्खे, जिससे सत्य की बढ़ती और असत्य का नाश हो उसको करे, सज्जनों का संग करें और दुष्टों से अलग रहे, जो जो प्रतिज्ञा करे वह वह सत्य से विरुद्ध न हो और उसको सर्वदा यथावत् पूरी करे । इत्यादि कर्म्म सब सभा आदि व्यवहारों में करें ।

प्रश्न-जड़बुद्धि और तीव्रबुद्धि किसे कहते है ?

उत्तर-जो आप तो समझ ही न सके परन्तु दूसरे के समझाने से भी न समझे वह 'जड़बुद्धि' और जो समझाने से झटपट समझे और थोड़े से समझाने से बहुत समझ जावे वह 'तीव्रबुद्धि' कहाता है । यहां महाजड़ और विद्वान् का दृष्टान्त सुनो ।

एक रामदास वैरागी का चेला गोपालदास पाठ करता-करता कुए पर पानी भरने को गया वहां एक पण्डित बैठा था । उसने अशुद्ध पाठ सुनकर कहा कि तु 'स्री गनेसाजनम' ऐसा घोखता है सो शुद्ध नहीं है किन्तु 'श्रीगणेशाय नमः' ऐसा शुद्ध पाठ कर । तब वह बोला कि मेरे महन्तजी बड़े पण्डित है । उनने जैसा मुझको सुनाया है वैसा ही कहूगा।

उसने पानी भरकर अपने गुरु के पास जाके कहा कि महाराज जी ! एक बम्मन् मेरे पाठ को असुद्ध बतलाता है, तब खाखी जी ने चेलों से कहा कि उस बम्मन् को यहां बुला लाओ, वह गुरु की लण्डी मेरे चेले को क्यों बहकाता और सुद्ध का असुद्ध क्यों बतलाता है ? चेला गया पण्डितजी को बुला लाया। पण्डित से महन्त बोले कि इसके कितने प्रकार के पाठ तू जानता है ? पण्डित ने कहा कि एक प्रकार का । महन्तजी- तू कुछ भी नहीं जानता, देख मैं तीन प्रकार का पाठ जानता हूं। स्री गनेसाजनम स्री गनेसापनम। तीसरा- स्री-गनेसायनम। (पण्डित) - महन्तजी! तुम्हारे पाठ में पांच दोष हैं । प्रथम श का स। ण का न । शा का सा । य का ज, प बोलना और विसर्जनीय का न बोलना अशुद्ध कहाता है । महन्तजी बोले - चल बे गुरु के बड़े घर में सब सुद्ध है । पण्डित चुपकर चले आये क्योंकि -

'सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रकथितं मूर्खस्य नैव क्वचित् ।

सब का औषध शास्त्र में कहा है परन्तु शठ मनुष्यों का कोई भी नहीं। ऐसे हठी मनुष्यों से अलग रहे परन्तु जो वे सुधरा चाहें तो विद्वान् उपदेश करके उनको अवश्य सुधारें ।

प्रश्न- माता, पिता, आचार्य्य और अतिथि अधर्म करें और कराने का उपदेश करें तो मानना चाहिये वा नहीं ?

उत्तर-कदापि नहीं । कुमाता कुपिता सन्तानों को कहते हैं कि बेटा! बिटिया! तेरा विवाह शीघ्र कर देंगे, किसी की चीज पावे तो उठा लाना, कोई एक गाली दे तो उसको तू पचास गाली देना, लड़ाई, झगड़ा, खेल, चोरी, जारी, मिथ्याभाषण, भांग, मद्य, गांजा, चरस,

अफीम खाना, पीना आदि कर्म्म करने में कुछ भी दोष नहीं, क्योंकि अपनी कुलपरम्परा है। सुनो प्रमाण - **'कुलधर्म्मः सनातनः'** जो कुल में धर्म पहिले से चला आता है, उसके करने में कुछ भी दोष नहीं ।

(सुसन्तान बोले) जो तुमने शीघ्र विवाह करना, किसी की चीज उठा लाना आदि कर्म्म कहे वे दुष्ट मनुष्यों के काम हैं, श्रेष्ठों के नहीं, किन्तु श्रेष्ठ तो ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़कर स्वयंवर अर्थात् पूर्ण युवा अवस्था में दोनों की प्रसन्नतापूर्वक विवाह करना, किसी की करोड़ों की चीज जंगल में भी पड़ी देखकर कभी ग्रहण करने की मन में इच्छा भी न करना आदि कर्म्म किया करते हैं । जो जो तुम्हारे उत्तम कर्म्म और उपदेश हैं, उन उन को तो हम ग्रहण करते हैं, अन्य को नहीं । परन्तु तुम कैसे ही हो, हमको तन, मन, धन से तुम्हारी सेवा करना परम धर्म्म है, क्योंकि तुमने बाल्यावस्था में जैसी हमारी सेवा की है वैसी तुम्हारी सेवा हम क्यों न करें ?

(कुसन्तान आह) श्रेष्ठ माता पिता आचार्य्य अतिथियों से अभागिये सन्तान कहते हैं कि हमको खूब खिलाओ, पिलाओ, खेलने दो, हमारे लिये कमाया करो, जब तुम मर जाओगे तब हम ही को सब काम करना पड़ेगा । शीघ्र विवाह कर दो, नहीं तो हम इधर उधर लीला करेंगे ही, बाग में जा के नाच तमाशा करेंगे, वा भाग जायेंगे वा वैरागी हो जायंगें । पढ़ने में बड़ा कष्ट होता है हमको पढ़के क्या करना है क्योंकि हमारी सेवा करने वाले तुम तो बने ही हो, हमको सैल सपट्टा, सवारी, शिकारी, नाच, तमाशे, खाने, पीने, ओढ़ने, पहरने के लिए खूब दिया करो नहीं तो जब हम जवान होंगे तब तुमको समझ लेंगे ।

'दण्डादण्डि, नखानखि, केशाकेशि, मुष्टामुष्टि, युद्धमेवान्यत्किम्'। ऐसे ऐसे सन्तान दुष्ट कहाते हैं ।

उत्तम माता आदि कहते हैं कि सुनो लड़को ! अब तुम्हारी पढ़ने, गुनने, सत्संग करने, अच्छी अच्छी बात सीखने, वीर्यनिग्रहण करने, आचार्य आदि की सेवा करके विद्वान् होने, शरीर और आत्मा की पूर्ण युवा अवस्था आदि उत्तम कर्म करने की अवस्था है, जो चूकोगे तो फिर पछतावोगे, पुनः ऐसा समय तुमको मिलना कठिन है क्योंकि जब तक हम घर का और तुम्हारे खाने पीने आदि का प्रबन्ध करनेवाले हैं तब तक तुम सर्वोत्कृष्ट विद्या और सुशिक्षा रूप धन को संचित करो। यही अक्षय धन है कि जिसको चोर आदि न ले सकते, न भार होता और जितना दान करोगे उतना ही अधिक अधिक बढ़ता जायगा । इससे युक्त होकर जहां रहोगे वहां सुखी और प्रतिष्ठा पाओगे । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्धी कर्म्मों को जानकर सिद्ध कर सकोगे। हम जब तुमको विद्यारूप श्रेष्ठ गुणों से अलंकृत देखेंगे, तब हमको परम सन्तोष होगा और जो तुम कोई दुष्ट काम करोगे तो हम अपना भी अभाग्य समझ लेंगे क्योंकि हमारे कौन से पापों के फल से हमको दुष्ट सन्तान मिले । क्या तुम नहीं देखते कि जिन मनुष्यों को राज्य धन प्राप्त है परन्तु वे विद्या और उत्तम शिक्षा के विना नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं और श्रेष्ठ विद्या सुशिक्षा से युक्त दरिद्र भी राज्य और ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं तुमको चाहिये कि-

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ।।

(तैत्तिरीय आरण्यके प्रपाठक ७ अनुवाक ११)

जो जो हमारे उत्तम चरित्र हैं सो सो करो और जो कभी हम भी बुरे काम करें उनको कभी मत करो, इत्यादि उत्तम उपदेश और कर्म करनेहारे माता पिता और आचार्य्य आदि श्रेष्ठ कहाते हैं ।

प्रश्न-राजा, प्रजा और इष्ट मित्र आदि के साथ कैसा कैसा व्यवहार करें ?

उत्तर-राजपुरुष प्रजा के लिए सुमाता पिता के समान और प्रजापुरुष राजसम्बन्ध में सुसन्तान के सदृश वर्त्तकर परस्पर आनन्द बढ़ावें । मित्र, मित्र के साथ सत्य व्यवहारों के लिये समान प्रीति से वर्त्तें परन्तु अधर्म्म के लिये नहीं। पड़ौसी के साथ ऐसा वर्त्ताव करें कि जैसा अपने शरीर के लिये करते हैं। स्वामी सेवक के साथ ऐसे वर्त्तें कि जैसा अपने हस्तपादादि अंगों की रक्षा के लिए वर्त्तते हैं । सेवक स्वामियों के लिये ऐसे वर्त्तें कि जैसे अन्न जल वस्त्र और घर आदि शरीर की रक्षा के लिये होते हैं।

प्रश्न-ब्रह्मचर्य का क्या क्या नियम है ?

उत्तर-कम से कम २५ वर्ष पर्यन्त पुरुष और सोलह वर्ष पर्यन्त कन्या को ब्रह्मचर्य सेवन अवश्य करना चाहिये और अड़तालीसवें वर्ष से अधिक पुरुष और चौबीस से अधिक कन्या ब्रह्मचर्य का सेवन न करें किन्तु उसके उपरान्त गृहाश्रम का समय है ।

प्रश्न-प्रमादी भूते-पागल मनुष्य कहता है कि सुनोजी । कन्या का पढ़ना शास्त्रोक्त नहीं क्योंकि जब वह पढ़ जावेगी तो मूर्ख पति का अपमान कर, इधर उधर पत्र भेजकर अन्य पुरुषों से प्रीति जमा के व्यभिचार किया करेगी।

उत्तर-सज्जनः समाधत्ते - श्रेष्ठ मनुष्य उसको उत्तर देता है सुनोजी तुम्हारे कहने से यह आया कि किसी पुरुष को भी न पढ़ना चाहिये क्योंकि वह भी पढ़कर मूर्ख स्त्री का अपमान और डाकगाड़ी चलाकर इधर उधर अन्य स्त्रियों के साथ सैल सपाटा किया करेगा ।

प्रश्न-प्रमादी - हां, पुरुष भी न पढ़े तो अच्छी बात है क्योंकि पढ़े भए मनुष्य चतुराई से दूसरों को धोखा देकर अपमान करके अपना मतलब सिद्ध कर लेते हैं ।

उत्तर-सज्जन - सुनोजी ! यह विद्या पढ़ने का दोष नहीं किन्तु आप जैसे मनुष्यों के संग का दोष है और जो पढ़ना पढ़ाना, धर्म और ईश्वर की विद्या से रहित है सो तो प्रायः बुरे काम का कारण देखने में आता और जो पढ़ना पढ़ाना उक्त विद्या से सहित है वह तो सबके सुख और उपकार ही के लिये होता है ।

प्रश्न-कन्याओं के पढ़ने में वैदिक प्रमाण कहां है ?

उत्तर-सुनो प्रमाण :-

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।।

अथर्ववेद का ११ । सू ५ । मं. १८ ।।

अर्थ - जैसे लड़के लोग ब्रह्मचर्य्य करते हैं, वैसे कन्या लोग ब्रह्मचर्य्य करके वर्णोच्चारण से लेकर वेदपर्य्यन्त शास्त्रों को पढ़कर प्रसन्न करके स्वेच्छा से पूर्ण युवा अवस्था वाले विद्वान् पति को वेदोक्त रीति से ग्रहण करें ।। १ ।। क्या अधर्मी से भिन्न कोई ऐसा भी मनुष्य होगा कि किसी पुरुष वा स्त्री को विद्या के पढ़ने से रोककर मूर्ख

रक्खा चाहे और वेदोक्त प्रमाण का अपमान करके अपना अकल्याण किया चाहे ?

प्रश्न-विद्या को किस किस क्रम से प्राप्त हो सकता है ?

उत्तर-शुद्ध वर्णोच्चारण, व्यवहार की शुद्धि, पुरुषार्थ, धार्मिक विद्वानों का संग, विषयकथाप्रसंग का त्याग, सुविचार से व्याकरण आदि से शब्द अर्थ और सम्बन्धों को यथावत् जानकर उत्तम क्रिया करके सर्वथा साक्षात् करता जाय । जिस जिस विद्या के लिये जो जो साधनरूप सत्यग्रन्थ हैं उनको पढ़कर वेदादि साध्य ग्रन्थों के अर्थों को जानना आदि कर्म शीघ्र विद्वान् होने के साधन हैं ।

प्रश्न-विना पढ़े हुए मनुष्यों की क्या गति होगी ?

उत्तर-दो; अच्छी और बुरी । अच्छी उसको कहते हैं कि जो मनुष्य विद्या पढ़ने का सामर्थ्य तो नहीं रखता, परन्तु वह धर्माचरण किया चाहे तो विद्वानों के संग और अपने आत्मा की पवित्रता और अविरुद्धता से धर्मात्मा अवश्य हो सकता है क्योंकि सब मनुष्यों को विद्वान् होने का तो सम्भव नहीं, परन्तु धार्मिक होने का सम्भव सब के लिये है क्योंकि जैसे अपने लिये सुख की प्राप्ति और दुःख के त्याग, मान्य के होने, अपमान के न होने आदि की अभिलाषा करते हैं तो दूसरों के लिये क्यों न करनी चाहिये? जब किसी की कोई चोरी वा किसी पर झूठा जाल लगाता है तो क्या उसको अच्छा लगता है अर्थात् जिस जिस कर्म के करने में अपने आत्मा को शंका, लज्जा और भय नहीं होता, वह वह धर्म और जिस जिस कर्म में शंकादि होते हैं, वह वह अधर्म किसी को विदित क्या नहीं होता ? क्या जो कोई आत्म

विरोध अर्थात् आत्मा में कुछ और, वाणी में कुछ भिन्न, और क्रिया में विलक्षण करता है वह अधर्मी और जिसके जैसा आत्मा में वैसा वाणी और जैसा वाणी में वैसा ही क्रिया में आचरण है, वह धर्मात्मा नहीं है ? प्रमाण -

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।१।।

यजुर्वेद अ ४० । म ३ ।।

अर्थ - (ये) जो (आत्महनः) आत्महत्यारे अर्थात् आत्मस्थज्ञान से विरुद्ध कहने मानने और करनेहारे हैं (ते) वे ही (लोकाः) लोग (असुर्य्या नाम) असुर अर्थात् दैत्य राक्षस नामवाले मनुष्य हैं वे (अन्धेन तमसावृताः) बड़े अधर्मरूप अन्धकार से युक्त होके जीते हुए और मरण को प्राप्त होकर (तान्) दुःखदायक देहादि पदार्थों को (अभिगच्छन्ति) सर्वथा प्राप्त होते हैं और जो आत्मरक्षक अर्थात् आत्मा के अनुकूल ही कहते, मानते और आचरण करने वाले मनुष्य विद्यारूप शुद्ध प्रकाश से युक्त होकर देव अर्थात् विद्वान् नाम से प्रख्यात हैं, वे सर्वदा सुख को प्राप्त होकर मरने के पीछे भी आनन्दयुक्त देहादि पदार्थों को प्राप्त होते हैं ।

प्रश्न-विद्या और अविद्या किसको कहते हैं ?

उत्तर-जिससे पदार्थ यथावत् जानकर न्याययुक्त कर्म किये जावें वह 'विद्या' और जिससे किसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान न होकर अन्यायरूप कर्म किये जायं वह 'अविद्या' कहाती है ।

प्रश्न-न्याय और अन्याय किसको कहते हैं ?

उत्तर-जो पक्षपात रहित सत्याचरण करना है वह **'न्याय'** और जो पक्षपात से मिथ्या आचरण करना है वह **'अन्याय'** कहाता है ।

प्रश्न-धर्म और अधर्म किसको कहते हैं ?

उत्तर-जो न्यायाचरण सबके हित का करना आदि कर्म हैं उनको **'धर्म'** और जो अन्यायाचरण सबके अहित के काम करने हैं उनको **'अधर्म'** जानो।

महामूर्ख का लक्षण

एक प्रियादास का चेला भगवान् दास अपने गुरु से बारह वर्ष पर्यन्त पढ़ा। एक दिन उनने पूछा कि महाराज ! मुझको संस्कृत बोलना नहीं आया । गुरु बोले-सुन बे ! पढ़ने पढ़ाने से विद्या नहीं आती, किन्तु गुरु की कृपा से आती है । जब गुरु सेवा से प्रसन्न होता है तब जैसे कुञ्जियों से ताला खोल कर मकान के सब पदार्थ झट देखने में आते हैं, वैसे ऐसी युक्ति बतला देते हैं कि हृदय के कपाट खुल जाकर सब पदार्थ विद्या तत्क्षण आ जाती है । सुन ! संस्कृत बोलने की तो सहज युक्ति है ।

(भगवान्दास) - वह क्या है महाराजजी ?

(गुरु) संसार में जितने शब्द संस्कृत वा देशभाषा में हों उन पर एक एक बिन्दु धरने से सब शुद्ध संस्कृत हो जाते हैं ।

अच्छा तो महाराज जी ! लोटा, जल, रोटी, दाल, शाक आदि शब्दों पर विन्दु धर के कैसे संस्कृत हो जाते हैं ?

देखो लोंटां । जंलं । रोंटीं । दांलं । शांकं ।

चेला बोला - वाह-वाह । गुरु के विना क्षणमात्र में पूरी विद्या कौन बतला सकता है ? भगवान्दास ने अपने आसन पर जाकर विचार के यह श्लोक बनाया -

बांपं आंजां नंमं स्कुंत्यं परं पांजं तंथैंवं चं ।
मंयां भंगंवांदांसेंनं गींतां टींकां कंरोम्यंहंम् ।

जब उसने प्रातः काल उठकर हर्षित होके गुरु के पास जाकर श्लोक सुनाया तो प्रियादासजी भी बहुत प्रसन्न हुए कि चेले हों तो तेरे जैसे गुरु के वचन पर विश्वासी और गुरु तो मेरे जैसे ।
ऐसे मनुष्यों का क्या औषध है विना अलग रहने के ?

प्रश्न-विद्या पढ़ते समय और पढ़ के किसी दूसरे को पढ़ावें वा नहीं ?

उत्तर-बराबर पढ़ाता जाय, क्योंकि पढ़ने से पढ़ाने में विद्या की वृद्धि अधिक होती है । पढ़ के आप अकेला विद्वान् होता है, पढ़ाने से दूसरा भी हो जाता है । उत्तरोत्तर काल में विद्या की हानि नहीं होती। विद्या को प्राप्त होकर वह मनुष्य परोपकारी, धार्मिक अवश्य होता है क्योंकि जैसे अन्धा कुए में गिर पड़ता है वैसे देखनेहारा कभी नहीं गिरता और अविद्या की हानि होने इत्यादि प्रयोजन पढ़ाने से ही सिद्ध होते हैं ।

प्रश्न-पोप उवाच - सभी विद्वान् हो जावेंगे तो हमको कौन पूछेंगे ? और आप ही आप सब पुस्तकों को बांचकर अर्थ समझ लेंगे, पूजा पाठ में भी न बुलावेंगे । विशेष विघ्न धनाढ्य और राजाओं के

पढ़ाने में है क्योंकि उनसे हम लोगों की बड़ी जीविका होती है ।

किसी शूद्र ने उनके पास पढ़ने की इच्छा से जाके कहा कि मुझको आप कुछ पढ़ाइये ।

अल्पबुद्धि पोप जी-तू कौन है और क्या काम करता है और तेरे घर में क्या व्यवहार होता है ?

उत्तर-मैं तो महाराज आपका दास शूद्र हूँ, कुछ ज़िमीदारी खेतीबाड़ी भी होती और घर में कुछ लेने देन का भी व्यवहार है ।

नष्टमति पोपजी-छी! छी! छी! तुझको सुनने और हमको सुनाने का भी अधिकार नहीं है । जो तू अपना धर्म्म छोड़कर हमारा धर्म्म करेगा तो क्या नरक में न पड़ेगा? हां तुझको वेदों से भिन्न ग्रन्थों की कथा सुनने का तो अधिकार है । जब तेरी सुनने की इच्छा हो तब हमको बुला लेना, सुना देंगे । परन्तु आप से आप मत बांच लेना, नहीं तो अधर्मी हो जावेगा, जो कुछ भेट पूजा लाया हो सो धर कर चला जा । और सुन, हमारे वचन को मान, नहीं तो तेरी मुक्ति कभी नहीं होगी, खूब कमा और हमारी सेवा किया कर, इसी में तेरा कल्याण और तुझ पर ईश्वर प्रसन्न होगा ।

दास-महाराज! मुझको तो पढ़ने की बहुत इच्छा है, क्या विद्या का पढ़ना बुरी चीज है कि दोष लग जाय ?

बकवृत्ति पोप जी-बस बस तुझको किसी ने बहका दिया है जो हमारे सामने उत्तर प्रत्युत्तर करता है । हाय! क्या करें कलियुग आ गया, विद्या को पढ़कर हमारा उपदेश नहीं मानते, बिगड़ गये ।

दास-क्या महाराज ! हमारे ही ऊपर कलियुग ने चढ़ाई कर दी कि जो हम ही को पढ़ने और मुक्ति से रोकता है ।

स्वार्थी पोप जी-हाँ हाँ जो सत्ययुग होता तो तू हमारे सामने ऐसा बर बर कर सकता ?

दास-अच्छा तो महाराज जी! आप नहीं पढ़ाते तो हमको जो कोई पढ़ावेगा उसके चेले हो जावेंगे ।

अन्धकारी पोप जी-सुन सुन कलियुग में और क्या होना है ।

दास-आंपकी हम सेवा करें उसके बदले आप हमको क्या देंगे ?

मार्जारलिंगी पोप जी - आशीर्वाद।

दास-उस आशीर्वाद से क्या होगा ?

धूर्त पोप जी-तुम्हारा कल्याण ।

दास-जब आप हमारा कल्याण चाहते हैं। तो क्या विद्या के पढ़ने से अकल्याण होता है ?

पोप जी उवाच-अब क्या तू हमसे शास्त्रार्थ करता है ?

प्रश्न-'पोप' का क्या अर्थ है ?

उत्तर-यह शब्द अन्य देश की भाषा का है । वहां इसका अर्थ पिता और बड़े का है परन्तु यहां तो केवल धूर्तता करके अपने मतलब सिद्ध करनेहारे का नाम है।

प्रश्न-जो विद्या पढ़ा हो और उसमें धार्मिकता न हो तो उसको विद्या का फल होता है वा नहीं ?

उत्तर-कभी नहीं, क्योंकि विद्या का यही फल है कि मनुष्य को धार्मिक अवश्य होना, जिसने विद्या के प्रकाश से अच्छा जान कर न

किया और बुरा जानकर न छोड़ा तो क्या वह चोर के समान नहीं है ? क्योंकि चोर भी चोरी को बुरी जानता हुआ करता और साहूकारी को अच्छी जानके भी नहीं करता है । वैसे ही जो पढ़ के भी अधर्म को नहीं छोड़ता और धर्म को नहीं करनेहारा मनुष्य है ।

प्रश्न-जब कोई मनुष्य मन से बुरा जानता है परन्तु किसी विशेष भय आदि निमित्तों से नहीं छोड़ सकता और अच्छे काम को नहीं कर सकता तब भी क्या उसको दोष वा गुण होता है अथवा नहीं ?

उत्तर-दोष ही होता है क्योंकि जो उसने अधर्म्म कर लिया उसका फल अवश्य होगा और जानकर भी धर्म्म को न किया उसको सुखरूप फल कुछ भी नहीं होगा, जैसे कोई मनुष्य कुए में गिरना बुरा जान के भी गिरे, क्या उसको दुःख न होगा और अच्छे मार्ग में चलना उत्तम जानकर भी न चले, उसको सुख कभी होगा ? इसलिए -

यथा मतिस्तथोक्तिर्यथोक्तिस्तथा कृतिस्सत्पुरुषस्य
लक्षमणतो विपरीतमसत्पुरुषस्येति ।।

वही **'सत्पुरुष'** का लक्षण है कि जैसा आत्मा का ज्ञान वैसा वचन और जैसा वचन वैसा ही कर्म्म करना, और जिसका आत्मा से मन, उससे वचन और वचन से विरुद्ध कर्म करना है वही - **असत्पुरुष'** का लक्षण है । इसलिए मनुष्यों को उचित है कि सब प्रकार का पुरुषार्थ करके अवश्य धार्मिक होना चाहिये ।

प्रश्न-पुरुषार्थ किसको कहते और उसके कितने भेद है ?

उत्तर-उद्योग का नाम **'पुरुषार्थ'** और उसके चार भेद हैं । एक-

अप्राप्त की इच्छा । दूसरा - प्राप्त की यथावत् रक्षा । तीसरा - रक्षित की वृद्धि और चौथा- बढ़ाये हुए पदार्थों का धर्म में खर्च करना । जो जो न्यायधर्म से युक्त क्रिया से अप्राप्त पदार्थों की अभिलाषा करके उद्योग करना । उसी प्रकार उसकी सब प्रकार से रक्षा करनी कि वह पदार्थ किसी प्रकार से नष्ट भ्रष्ट न हो जाय । उसको धर्म्मयुक्त व्यवहार से बढ़ाते जाना और बढ़े हुए पदार्थ को उत्तम व्यवहारों में खर्च करना, ये चार भेद हैं ।

प्रश्न-किस किस प्रकार से किस किस व्यवहार में तन, मन, धन लगाना चाहिये ?

उत्तर-निम्नलिखित चारों में -

'विद्या की वृद्धि, परोपकार, अनाथों का पालन और अपने सम्बन्धियों की रक्षा' । विद्या के लिए शरीर को आरोग्य और उससे यथायोग्य क्रिया करनी, मन से अत्यन्त विचार करना कराना और धन से अपने सन्तान और अन्य मनुष्यों को विद्यादान करना कराना चाहिये । परोपकार के लिए शरीर और मन से अत्यन्त उद्योग और धन से नाना प्रकार के व्यवहार तथा कारखाने खड़े करने कि जिनमें अनेक मनुष्य कर्म्म करके अपना अपना जीवन सुख से किया करें । **'अनाथ'** उनको कहते हैं कि जिनका सामर्थ्य अपने पालन करने का भी न हो, जैसे कि बालक, वृद्ध, रोगी, अंगभंग आदि हैं, उनको भी तन, मन, धन लगाकर सुखी रख के जिस जिस से जो जो काम बन सके, उस उस से वह वह कार्य्य सिद्ध कराना चाहिये कि जिससे कोई

आलसी होके नष्टबुद्धि न हों और अपने सन्तान आदि मनुष्यों के खान पान अथवा विद्या की प्राप्ति के लिए जितना तन, मन, धन लगाया जाय उतना थोड़ा है, परन्तु किसी को निकम्मा कभी न रहना और न रखना चाहिये ।

प्रश्न-विवाह करके स्त्री पुरुष आपस में कैसे कैसे वर्तें ?

उत्तर-कभी कोई किसी का अप्रियाचरण अर्थात् जिस जिस व्यवहार से एक दूसरे को कष्ट हो वैसा व्यवहार कभी न करें, जैसे कि व्यभिचार आदि । एक दूसरे को देखकर प्रसन्न हों, एक दूसरे की सेवा करें । पुरुष भोजन, वस्त्र, आभूषण और प्रियवचन आदि व्यवहारों से स्त्री को सदा प्रसन्न रक्खे और घर के सब कृत्य उसके आधीन करे। स्त्री भी अपने पति से प्रसन्नवदन, खान पान प्रेमभाव आदि से उसको सदा हर्षित रक्खे कि जिससे उत्तम सन्तान हो और सदा दोनों में आनन्द बढ़ता जाय ।

प्रश्न-ऐसा न करें तो क्या बिगाड़ है ?

उत्तर-सर्वस्वनाश । क्योंकि परस्पर प्रीति के विना न गृहाश्रम का किञ्चित् सुख, न उत्तम सन्तान और न प्रतिष्ठा वा लक्ष्मी आदि श्रेष्ठ पदार्थों की प्राप्ति कभी होती है । सुनो, मनुजी कहते हैं :-

सन्तुष्टो भार्य्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ।। १ ।।

मनु. अ.३. ६०. ।।

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री आनन्दित रहती

है उसी में निश्चित कल्याण की स्थिति रहती है । परन्तु यह बात कब होगी कि जब ब्रह्मचर्य से विद्या शिक्षा ग्रहण करके युवावस्था में परस्पर परीक्षा करके प्रसन्नतापूर्वक स्वयंवर ही विवाह करेंगे क्योंकि जितनी हानि विद्या सुख और उत्तम प्रजा की बाल्यावस्था में विवाह और व्यभिचार से होती है उतना ही सुखलाभ ब्रह्मचर्य से शरीर और आत्मा की पूर्ण युवावस्था होकर परस्पर प्रीति से विवाह करने से होता है । जो मनुष्य परस्पर प्रीति से स्वयंवर विवाह करके सन्तानों को उत्पन्न करते हैं उनके सन्तान भी ऐसे योग्य होते हैं कि लाखों में एक ही होते हैं कि जिन में बुद्धि, बल, पराक्रम, धर्म्म, शील आदि शुभगुण पूर्ण होते हैं कि जो महाभाग्यशाली कहाकर अपने कुल को अति प्रशंसित कर देते हैं ।।

प्रश्न-मनुष्यपन किसको कहते है ?

उत्तर-इस मनुष्य जाति में एक ऐसा गुण है कि वैसा किसी दूसरी जाति में नहीं पाया जाता ।

प्रश्न-वह कौनसा है ?

उत्तर-जितने मनुष्य से भिन्न जातिस्थ प्राणी हैं उनमें दो प्रकार का स्वभाव है - बलवान् से डरना, निर्बल को डराना और पीडा देना अर्थात् दूसरे का प्राण तक निकाल के अपना मतलब साध लेना, ऐसा देखने में आता है । जो मनुष्य ऐसा ही स्वभाव रखता है उसको भी इन्हीं जातियों में गिनना उचित है, परन्तु जो निर्बलों पर दया, उनका उपकार और निर्बलों को पीड़ा देने वाले अधर्मी बलवानों से किञ्चिन्मात्र

भी भय शंका न करके इनको परपीड़ा से हठा के निर्बलों की रक्षा तन, मन, धन से सदा करना ही मनुष्य जाति का निज गुण है, क्योंकि जो बुरे कामों के करने में भय और सत्य कामों के करने में किञ्चित् भी भय शंका नहीं करते वे ही मनुष्य धन्यवाद के पात्र कहाते हैं।

प्रश्न-क्योंजी ! सर्वथा सत्य से तो कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता। देखो ! व्यापार में सत्य बात कहदें तो किसी पदार्थ का विक्रय न हो, हार जीत के व्यवहार में मिथ्या साक्षी न खड़े करें तो हार हो जाय, इत्यादि हेतुओं से सब ठिकानों में सत्यभाषणादि कैसे कर सकते है ?

उत्तर-यह बात महामूर्खता की है । जैसे किसी ग्राम में एक लालबुझक्कड़ रहता था कि जिसको पांच सौ ग्रामवाले महापण्डित और गुरु मानते थे । एक रात में किसी राजा का हाथी उसी ग्राम के समीप होकर कहीं स्थानान्तर को चला गया था, उसके पग के चिह्न जहां तहां मार्ग में बन रहे थे, उनको देख के खेती करनेहारे ग्रामीण लोगों ने परस्पर पूछा कि भाई ! यह किसका खोज है ? सबने कहा कि हम नहीं जानते हम नहीं जानते । फिर सब की सम्मति से लालबुझक्कड़ को बुलाके पूछा कि तुम्हारे विना कोई भी दूसरा मनुष्य इसका समाधान नहीं कर सकता । कहो यह किसके पग का चिह्न है ? जब वह रोया और रोकर हंसा तब सबने पूछा कि तुम क्यों रोये और हंसे ? तब वह बोला कि जब मैं मर जाऊंगा तब ऐसी ऐसी बातों का उत्तर विना मेरे कौन दे सकेगा और हंसा इसलिए कि इसका उत्तर

तो सहज है, सुनो -

लालबुझक्कड़ बूझिया और न बूझा कोई ।
पग में चक्की बांध के हिरणा कूदा होई ।।

जो जंगल में हिरण होता है वह किसी जंगली मनुष्य की चक्की के पाटों को अपने पगों में बांध के कूदता चला गया है, तब सुनकर सब लोगों ने वाह वाह बोलकर उसको धन्यवाद दिया और बोले कि तुम्हारे सदृश पृथिवी में कोई भी पण्डित नहीं है कि ऐसी ऐसी बातों का उत्तर दे सके ।

जब वह लालबुझक्कड़ गाम की ओर आता ही था इतने में एक ग्रामीण की स्त्री ने जंगल से बेर लाके जो अपना लड़का छप्पर के खम्भे को पकड़ के खड़ा था उसको कहा कि बेटा ! बेर ले । तब उसने हाथों की अंजलि बांध के बेरों को ले लिया परन्तु जब छप्पर की थूनी हाथों के बीच में रहने से उसका मुख बेर तक नहीं पहुँचा, तब लड़का रोने लगा । लड़के को रोते देखकर उसकी मां भी रोने लगी कि हाय रे मेरे लड़के को खम्भे ने पकड़ लिया रे ! तब उसका बाप सुनकर आया, वह भी रोने लगा कि हाय रे! थूणी ने मेरे लड़के को सचमुच पकड़ लिया । तब उसको सुनके अड़ौसी पड़ौसी भी रोने लगे कि हाय रे दय्या ! इसके लड़के को खम्भे ने कैसा पकड़ लिया है, कि छोड़ता ही नहीं । तब किसी ने कहा कि लालबुझक्कड़ को बुलाओ, उसके विना कोई भी लड़के को नहीं छुड़ा सकेगा । तब एक मनुष्य उसको शीघ्र बुला लाया, फिर उसको पूछा कि यह लड़का कैसे छूट सकता है तब

वह वैसे ही हँस और रो के स्वमुख से अपनी बड़ाई करके बोला कि सुनो लोगो ! दो प्रकार से यह लडका छूट सकता है, एक तो यह है कि कुहाड़ा लाके लड़के का एक हाथ काट डालो अभी छूट जायगा और दूसरा उपाय यह है कि प्रथम छप्पर को उठा के नीचे धरो फिर लड़के को थूनी के ऊपर से उतार ले आओ । तब लड़के का बाप बोला कि हम दरिद्र मनुष्य हैं हमारा छप्पर टूट जायेगा तो फिर छावना कठिन है, तब लालबुझक्कड़ बोला कि लाओ कुहाड़ा, फिर क्या देख रहे हो। कुहाड़ा लाके जब तक हाथ काटने को तैयार हुए तब तक दूसरे ग्राम से एक बुद्धिमती स्त्री भी हल्ला सुनकर वहां पहुंच कर देख कर बोली कि इसका हाथ मत काटो । देखो ! मैं इस लड़के को छुड़ा देती हूँ। तब वह खम्भे के पास जाके लड़के की अञ्जलि के नीचे अपनी अञ्जलि करके बोली कि बेटा मेरे हाथ में बेर छोड़ दे। जब वह बेर छोड़ के अलग हो गया फिर उसको बेर दे दिये, खाने लगा । तब तो बहुत क्रुद्ध होकर लालबुझक्कड़ बोला कि यह लड़का छः महीने के बीच मर जायगा, क्योंकि जैसा मैंने कहा था वैसा करतो तो न मरता । तब तो उसके मा बाप घबरा के बोले कि अब क्या करना चाहिये । तब उस स्त्री ने समझाये कि यह बात झूठ है और हाथ के काटने से तो अभी यह मर जाता तो तुम क्या करते ? मरण से बचने का कोई औषध नहीं तब उनका घबराहट छूट गया ।

वैसे जो मनुष्य महामूर्ख हैं वे ऐसा समझते हैं कि सत्य से व्यवहार का नाश और झूठ से व्यवहार की सिद्धि होती है परन्तु जब किसी को कोई एक व्यवहार में झूठा समझ ले तो उसकी प्रतिष्ठा

प्रतीति और विश्वास सब नष्ट होकर उसके सब व्यवहार नष्ट होते जाते और जो सब व्यवहारों में झूठ को छोड़कर सत्य ही करते हैं उनको लाभ ही लाभ होते हैं हानि कभी नहीं। क्योंकि सत्य व्यवहार करने का नाम **'धर्म'** और विपरीत का **'अधर्म'** है । क्या धर्म का सुख के लाभरूपी और अधर्म का दुःखरूपी फल नहीं होता ? प्रमाण –

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ।। १ ।। यजु ।। अ १ । म. ५ ।।

सत्यमेव जयति नाऽनृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ।।२।।

मुण्ड ३ । खं. १ मन्त्र ६ ।।

न सत्यात्परो धर्म्मो नानृतात्पातकं परम् ।। ३ ।। इत्यादि

अर्थ–मनुष्य में मनुष्यपन यही है कि सर्वथा झूठ व्यवहारों को छोड़कर सत्य व्यवहारों का ग्रहण सदा करे ।। १ ।। क्योंकि सर्वदा सत्य ही का विजय और झूठ का पराजय होता है, इसलिये जिस सत्य से चल के धार्मिक ऋषि लोग जहा सत्य की निधि परमात्मा है उसको प्राप्त होकर आनन्दित हुए थे और अब भी होते हैं, उसका सेवन मनुष्य लोग क्यों न करें ।२। यह निश्चित है कि न सत्य से परे कोई धर्म और न असत्य से परे कोई अधर्म है ।३। इससे धन्य मनुष्य वे हैं जो सब व्यवहारों को सत्य ही से करते और झूठ से युक्त कर्म किञ्चिन्मात्र भी नहीं करते ।

दृष्टान्त–

एक किसी अधर्मी मनुष्य ने किसी अधर्मी बजाज की दुकान पर जाकर कहा कि यह वस्त्र के आने गज देगा ? वह बोला कि सोलह आने,

तुम भी कुछ कहो।

बजाज और ग्राहक दोनों जानते ही थे कि यह दश आने गज का कपड़ा है परन्तु अधर्मी झूठ बोलने में कभी नहीं डरते ।

ग्राहक-छः आने गज दो और सच सच लेने देने की बात करो ।

बजाज-अच्छा तो तुमको दो आने छोड़ देते हैं चौदह आने दो ।

ग्राहक-है तो टोटा परन्तु सात आने ले लो ।

बजाज-अच्छा तो सच सच कहूं ?

ग्राहक-हां हां ।

बजाज-चलो एक आना तोटा ही सही तेरह आने दो, तुमको लेना हो तो लो ।

ग्राहक-मैं सत्य सत्य कहता हूँ कि इसका आठ आने से अधिक कोई भी तुमको न देगा।

बजाज-तुमको लेना हो तो लो, न लेना हो, मत लो, परमेश्वर की सौगन्द बारह आने गज तो मुझको पड़ा है, तुमको भला मनुष्य जानकर मैं दे देता हूँ।

ग्राहक-धर्म की सौगन्द मैं सच कहता हूँ तुझको देना हो तो दे पीछे पछतावेगा, मैं तो दूसरे की दुकान से ले लूंगा, क्या तुम्हारी ही एक दुकान है ? नव आने गज दे दो, नहीं तो मैं जाता हूँ ।

बजाज-तुमने ऐसा कभी खरीदा भी है ? नव आने गज लाओ मैं सौ रुपये का लेता हूँ।

ग्राहक धीरे-धीरे चला कि मुझको यह बुलाता है वा नहीं । बजाज तिरछी नजर से देखता रहा कि देखें वह लौटता है वा नहीं । जब न

लौटा तब बोला सुनो! सुनो !! इधर आओ !
ग्राहक-क्या कहते हो नव आने पर दोगे ?
बजाज-ए लो धर्म से कहता हूं कि ग्यारह आने दे दो ।
ग्राहक-साढ़े नव आने लो, कहकर कुछ आगे चला ।
बजाज ने समझा कि गया हाथ से । अजी इधर आओ आओ।
ग्राहक-क्यों तुम देर लगाते हो व्यर्थ काल जाता है ।
बजाज-मेरे बेटे की सौगन्द तुम इसको न लोगे तो पछताओगे।अब मैं सत्य ही कहता हूँ साढ़े दश आने दे दो नहीं तो तुम्हारी राजी ।
ग्राहक-मेरी सौगन्द तुमने दो आने अधिक लिये हैं, अच्छा दश आने देते हैं, इतने का है तो नहीं ।
बजाज-अच्छा सवादश आने भी दोगे ?
ग्राहक-नहीं नहीं ।
बजाज-अच्छा आओ बैठो, के गज लोगे ?
ग्राहक-सवा गज ।
बजाज-अजी कुछ अधिक लो ।
ग्राहक-अच्छा ! नमूना ले जाते हैं, अब तो तुम्हारी दुकान देख ली, फिर कभी आवेंगे तो बहुत लेंगे ।

बजाज ने नापने में कुछ सरकाया ।

ग्राहक-अजी देखें तो तुमने कैसा नापा ?
बजाज-क्या विश्वास नहीं करते हो, हम साहूकार हैं वा ठट्ठा है, हम कभी झूठ कहते और करते हैं ?

ग्राहक-हांजी, तुम बड़े सच्चे हो । एक रुपया कहकर दश आने तक आये, छः आना घट गये, अनेक सौगन्दें खाईं ।

बजाज-वाह जी वाह ! तुम भी बड़े सच्चे हो, छ. आने कहकर दश आने तक लेने को तैयार हो, अनेक सौगन्दें खा खा कर आये। सौदा झूठ के विना कभी नहीं हो सकता ।

ग्राहक-अजी तू तो बड़ा झूठा है ।

बजाज-क्या तू नहीं है ? क्योंकि एक गज कपड़े के लिए कोई भी भला मनुष्य इतना झगड़ा करता है ?

ग्राहक-तू झूठा तेरा बाप, हमारी सात पीढ़ी में कोई झूठा भी हुआ है ?

बजाज-तू झूठा, तेरी सात पीढ़ी भी झूठी ।

ग्राहक ने ले जूता एक मार दिया, बजाज ने गज चट मारा, अड़ौसी पड़ौसी दुकानदारों ने जैसे तैसे छुड़ाया ।

बजाज-चल चल जा, तेरे जैसे लाखों देखे हैं ।

ग्राहक-चल बे तेरे जैसे जुबांजोर, टटपूंजिये दुकानदार मैंने करोड़ों देखे हैं ।

(अड़ोसी-पड़ोसी) - अजी झूठ के विना कभी सौदा भी होता है ? जाओ जी तुम अपनी दुकान पर बैठो और जाओ तुम अपने घर को ।

बजाज-यह बड़ा दुष्ट मनुष्य है ।

ग्राहक-अबे मुख सम्भाल के बोल ।

बजाज-तू क्या कर लेगा ?

ग्राहक-जो मैंने किया सो तैने देख लिया और कुछ देखना हो तो दिखला दूं।

बजाज-क्या तू गज से न पीटा जायेगा ?

फिर दोनों लड़ने को दौड़े, जैसे - तैसे लोगों ने अलग अलग कर दिये। ऐसे ही सर्वत्र झूठे लोगों की दुर्दशा होती है ।

धार्म्मिकों का दृष्टान्त -

ग्राहक-इस दुशाले का क्या मूल्य है ।

बजाज-पांच सौ रुपये ।

ग्राहक-अच्छा लीजिये ।

बजाज-लो दुशाला ।

सच्चे दुकानवाले के पास कोई झूठा ग्राहक गया, इस दुशाले का क्या लोगे ?

बजाज-अढ़ाईसौ रुपये ।

ग्राहक-दो सौ लो ।

सेठ-जाओ, यहां तुम्हारे लिए सौदा नहीं है ।

ग्राहक-अजी कुछ तो कम लो ।

साहूकार-यहां झूठ का व्यवहार नहीं है, बहुत मत बोल, लेना हो तो लो, नहीं तो चले जाओ ।

ग्राहक दूसरी बहुत दुकानों में माल देख मूल्य करके, फिर वहीं आके अढ़ाई सौ रुपये देकर दुशाला ले गया ।

सच्चा ग्राहक झूठे दुकानदार के पास जाकर बोला कि इस पीताम्बर के क्या लोगे ?

बजाज-पच्चीस रुपये।

ग्राहक-बारह रुपये का है देना हो तो दो, कहकर चलने लगा ।

बजाज-अच्छा तो साढ़े बारह ही दो ।

ग्राहक-नहीं ।

बजाज-सवा बारह दो ।

ग्राहक-नहीं ।

बजाज-अच्छा बारह का ही ले जाओ

ग्राहक-लाओ, लो रुपये ।

ऐसे धार्मिकों को सदा लाभ ही लाभ होता है और झूठों की दुर्दशा होकर दिवाले ही निकल जाते हैं । इसलिये सब मनुष्यों को अत्यन्त उचित है कि सर्वथा झूठ को छोड़कर सत्य ही से सब व्यवहार करें । जिससे धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होकर सदा आनन्द में रहें ।

प्रश्न-मनुष्य का आत्मा सदा धर्म्म और अधर्म्मयुक्त किस किस कर्म से होता है ?

उत्तर-सर्वान्तर्य्यामी, सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापक, सर्वकर्मों के साक्षी परमात्मा से डरने से अर्थात् कोई कर्म्म ऐसा नहीं है कि जिसको वह न जानता हो । सत्यविद्या, सुशिक्षा, सत्पुरुषों का संग, उद्योग, जितेन्द्रियता, ब्रह्मचर्य आदि शुभ गुणों के होने और लाभ के अनुसार व्यय करने से मनुष्य धर्मात्मा होता है और जो इससे विपरीत है वह धर्मात्मा कभी नहीं हो सकता क्योंकि जो राजा आदि अल्पज्ञ मनुष्यों से भय करता और परमेश्वर से भय नहीं करता वह क्यों कर धर्म्मात्मा हो सकता है ? क्योंकि राजा आदि के सामने बाहर की अधर्म्मयुक्त

चेष्टा करने में तो भय होता है परन्तु आत्मा और मन में बुरी चेष्टा करने में कुछ भी भय नहीं होता, क्योंकि ये भीतर का कर्म नहीं जान सकते । इससे आत्मा और मन का नियम करनेहारा राजा एक आत्मा और दूसरा परमेश्वर ही है मनुष्य नहीं । और वे जहां एकान्त में राजादि मनुष्यों को नहीं देखते वहां तो बाहर से भी चोरी आदि दुष्ट कर्म करने में कुछ भी शंका नहीं करते ।

दृष्टान्त-

जैसे एक धार्मिक विद्वान् के पास पढ़ने के लिए दो नवीन विद्यार्थियों ने आके कहा कि आप हमको पढ़ाइये ।

विद्वान्-अच्छा हम तुमको पढ़ावेंगे परन्तु हम कहें सो एक काम तुम दोनों जने कर लाओ । इस एक एक लड़के को एकान्त में ले जा के जहाँ कोई भी न देखता हो, वहां इसका कान पकड़ कर दो चार वार शीघ्र शीघ्र उठा बैठा के धीरे से एक चपेटिका मार देना । दोनों दोनों को ले के चले । एक ने तो चारों ओर देखा कि यहां कोई नहीं देखता, उक्त काम करके झट चला आया । दूसरा पण्डित के वचन के अभिप्राय को विचारने लगा कि मुझ को लड़का और मैं लड़के को देखता ही हूँ फिर वह काम कैसे कर सकता हूँ ? पण्डित के पास आया । तब जो आया था उससे पण्डित ने पूछा कि जो हमने कहा था सो तू कर आया ? उसने कहा - हां । दूसरे को पूछा कि तू भी कर आया वा नहीं ? उसने कहा-नहीं क्योंकि आपने मुझको ऐसा कहा था कि जहां कोई न देखता हो वहां यह काम करना, सो ऐसा स्थान मुझको कहीं भी नहीं मिल सकता । प्रथम तो मैं इस लड़के को

और लड़का मुझको देखता ही था । पण्डित ने कहा कि तू बुद्धिमान् और धार्मिक है मुझसे पढ़ । दूसरे से कहा कि तू पढ़ने के योग्य नहीं है, यहां से चला जा।

वैसे ही क्या कोई भी स्थान वा कर्म है कि जिसको आत्मा और परमात्मा न देखता हो, जो मनुष्य इस प्रकार आत्मा और परमात्मा की साक्षी से अनुकूल कर्म करते हैं वे ही **'धर्मात्मा'** कहाते हैं।

प्रश्न-सब मनुष्यों को विद्वान् वा धर्मात्मा होने का संभव है वा नहीं ?

उत्तर-विद्वान् होने का तो सम्भव नहीं परन्तु जो धर्मात्मा हुआ चाहें तो सभी हो सकते हैं । अविद्वान् लोग दूसरों को धर्म में निश्चय नहीं करा सकते और विद्वान् लोग धार्मिक होकर अनेक मनुष्यों को भी धार्मिक कर सकते हैं और कोई धूर्त मनुष्य अविद्वान् को बहका के अधर्म में प्रवृत्त कर सकता है परन्तु विद्वान् को अधर्म में कभी नहीं चला सकता । क्योंकि जैसे देखता हुआ मनुष्य कुए में कभी नहीं गिरता, परन्तु अन्धे के गिरने का सम्भव है । वैसे विद्वान् सत्यासत्य को जान के उसमें निश्चित रह सकते और अविद्वान् ठीक ठीक स्थिर नहीं रह सकते ।

दृष्टान्त-

एक कोई अविद्वान् राजा था । उसके राज्य में किसी ग्राम में कोई मूर्ख भिक्षुक ब्राह्मण था । उसकी स्त्री ने कहा कि आज कल भोजन भी नहीं मिलता, बहुत कष्ट है, तुम पहले दानाध्यक्ष के पास जाना । वह राजा के पास लेजा के कुछ जप अनुष्ठान लगवा देगा । उसने वैसा ही

किया। जब उसने दानाध्यक्ष के पास जाके अपना हाल कहा कि आप मेरी कुछ जीविका करा दीजिए ।

दानाभक्ष-मुझको क्या देगा ?

अर्थी-जो तुम कहो ।

दानाभक्ष-'अर्द्धमर्द्धं स्वाहा' ।

महाराज मैं नहीं समझा, तुमने क्या कहा ?

दानाभक्ष-जो तू आधा हमको दे और आधा तू ले तो तेरी जीविका लगा दें ।

स्वार्थी-जैसे तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो । अच्छा तो चल राजा के पास।

स्वार्थी-चलो।

खुशामदियों से सभा भरी थी वहां दोनों पहुंचे । दानाभक्ष ने कहा कि यह गोब्राह्मण है इसकी कुछ जीविका कर दीजिये । यह आपका जप अनुष्ठान किया करेगा।

राजा-अच्छा जो आप कहें ।

दानाभक्ष-दश रुपये मासिक होने चाहियें ।

राजा-बहुत अच्छा ।

दानाभक्ष-छः महीने का प्रथम मिलना चाहिये ।

राजा-अच्छा कोशाध्यक्ष ! इसको छः महीने का जोड़ कर दे दो ।

कोशाध्यक्ष-जो आज्ञा ।

जब स्वार्थी रुपये लेने को गया, तब कोशाभक्ष बोले मुझको क्या देगा ?

स्वार्थी-आप भी एक दो ले लीजिये ।

कोशाभक्ष-छी ! छी! दश से कम हम नहीं लेंगे, नहीं तो आज रुपये न मिलेंगे, फिर आना।

जब तक दानाभक्ष ने एक नौकर भेज दिया कि उसको हमारे पास ले आओ, तब तक कोशाभक्ष जी ने भी दश रुपये उड़ा लिये। स्वार्थी पचास रुपये लेके चला । मार्ग में-

नौकर-कुछ मुझको भी दे ।

स्वार्थी-अच्छा भाई तू भी एक रुपया ले ले ।

नौकर-लाओ ।

जब दरवाजे पर आया तब सिपाहियों ने रोका । कौन हो तुम ? क्या ले जाते हो ?

नौकर-मैं दानाभक्ष का नौकर हूं ।

सिपाही-यह कौन है ?

नौकर-जपानुष्ठानी ।

सिपाही-कुछ मिला ?

नौकर-यही जाने ।

सिपाही-कहो भाई क्या मिला ?

स्वार्थी-जितना तुम लोगों से बचकर घर पहुंचे सो ही मिला ।

सिपाही-हम को भी कुछ देता जा ।

स्वार्थी-लो आठ आने ।

सिपाही-लाओ ।

जब तक दानाभक्ष घबराया कि वह भाग तो नहीं गया । दूसरे नौकर से बोले कि देखो तो वह कहां गया ? तब तक वे स्वार्थी आदि भी आ पहुंचे ।

दानाभक्ष-लाओ, रुपये कहां है ?

स्वार्थी-ये हैं अड़तालीस ।

दानाभक्ष-बारह रुपये कहां गये ?

स्वार्थी ने जैसा हुआ था, वैसा कह दिया ।

दानाभक्ष-अच्छा तो चार मेरे गये और आठ तेरे ।

स्वार्थी-अच्छा जैसी आप की इच्छा हो । तब छब्बीस लिए दानाभक्ष ने और बाईस स्वार्थी ने ले के कहा कि मैं घर हो आऊं कल आ जाऊंगा। वह दूसरे दिन आया । उससे दानाभक्ष ने कहा कि तू गंगाजी पर जाकर राजा का जप कर और ये ले धोती, अंगोछा, पंचपात्र, माला और गोमुखी । वह लेके गंगा पर गया, वहां स्नान कर माला लेके जप करने बैठा । विचारा कि जो दानाध्यक्ष ने कहा था वही मन्त्र है । ऐसा वह मूर्ख समझ गया । **'सरप माला खटक मणका, मैं राजा का जप करूं, मैं राजा का जप करूं, मैं राजा का जप करूं**, जपने लगा।

तब किसी दूसरे मूर्ख ने विचारा कि जब उसका लग गया तो मेरा भी लग जायेगा, चलो । वह गया, वैसा ही हुआ । चलते समय दानाभक्ष बोले कि तू जा, जैसा वह करता है वैसा करना । वह गया। वैसे ही आसन पर बैठकर पहले वाले का मन्त्र सुनकर जपने लगा कि **'तू करे सो मैं करूं, तू करे सो मैं करूं'** । वैसे ही तीसरा कोई धूर्त जाके सब कुछ कर करा लाया । चलते समय दानाभक्ष ने कहा कि जब तक निर्वाह होता दीखे तब तक करना । वह भी इसी अभिप्राय को मन्त्र समझ के वहां जाकर जप करने को बैठ के जपने लगा कि **'ऐसा निभेगा कब तक, ऐसा निभेगा कब तक, ऐसा निभेगा तब तक'** । वैसे

ही चौथा कोई मूर्ख सब प्रबन्ध कर कराके गंगा पर जाने लगा तब दानाभक्ष ने कहा कि जब तक निभे तब तक निभाना । वह भी इसको मन्त्र ही समझके गंगा पर जाके जप करने को बैठ के उन तीनों का मन्त्र सुनों कि एक कहता है - **'मैं राजा का जप करूँ, मैं राजा का जप करूँ,'** दूसरा - **'तू करे सो मैं करूँ, तू करे सो मैं करूँ,'** तीसरा - **'ऐसा निभेगा कब तक, ऐसा निभेगा कब तक'**, और चौथा जपने लगा कि जब तक निभे तब तक, जब तक निभे तब तक ।

ध्यान रक्खो कि सब अधर्म्मी और स्वार्थी लोगों की लीला ऐसी ही हुआ करती है कि अपने मतलब के लिए अनेक अन्यायरूप कर्म करके अन्य मनुष्यों को ठग लेते हैं । अभाग्य है ऐसे मनुष्यों का कि जिनके आत्मा अविद्या और अधर्म्मान्धकार में गिर के कदापि सुख को प्राप्त नहीं होते ।

यहाँ किसी एक धार्मिक राजा का दृष्टान्त सुनो -

कोई एक विद्वान् धर्मात्मा राजा था । उसके और उसके दानाध्यक्ष के पास किसी ऐसे ही धूर्त ने जाकर कहा कि मेरी जीविका करा दो ।

दानाध्यक्ष-तुमने कौन कौन शास्त्र पढ़ा और क्या क्या काम करते हो ?

अर्थी-मै कुछ भी नहीं पढ़ा हूँ । बीस वर्ष तक खेलता कूदता गाय, भैंस चराता और खेतों में डोलता रहा और माता पिता के सामने आनन्द करता था; अब सब घर का बोझ पड़ गया है, आपके पास आया हूँ कुछ करा दीजिये ।

दानाध्यक्ष-नौकरी चाकरी करो तो करा दें ।

अर्थी-मैं ब्राह्मण साधु और जहां तहां बाजारों में उपदेश करने वाला हूं, मुझसे ऐसा परिश्रम कहां बन सकता है ?

दानाध्यक्ष-तू विद्या के विना ब्राह्मण, परोपकार के विना साधु और विज्ञान के विना उपदेश कैसे कर सकता होगा ? इसलिए नौकरी चाकरी करना हो तो कर नहीं तो चला जा ।

वह मूर्ख वहां से निराश होकर चला कि यहां मेरी दाल न गलेगी चलो राजा से कहें । जब जाके वैसे ही राजा से कहा तब राजा ने वैसा ही जवाब दिया कि जैसा दानाध्यक्ष ने दिया था । वह वहां से चला गया । इसके पश्चात् एक योग्य विद्वान् ने आके दानाध्यक्ष से मिल के बातचीत की तो दानाध्यक्ष ने समझ लिया कि यह बहुत अच्छा सुपात्र विद्वान् है, जाके राजा से मिला के कहा कि इन पण्डितजी से आप भी कुछ बातचीत कीजिये। वैसा ही किया । तब राजा ने परीक्षा करके जाना कि यह अति श्रेष्ठ विद्वान् हैं, ऐसा जान कर कहा कि आपको हजार रुपये मासिक मिलेंगे, आप सदा हमारी पाठशाला में विद्यार्थियों को पढ़ाया और धर्मोपदेश दिया कीजिये, वैसा ही हुआ । धन्य ऐसे राजा और दानाध्यक्षादि हैं जिनके हृदय में विद्या, परमात्मा और धर्मरूप सूर्य प्रकाशित होता है ।

प्रश्न-दानाभक्ष और दानाध्यक्ष किसको कहते हैं ।

उत्तर-जो दाता के दान का भक्षण करके अपना स्वार्थ सिद्ध करता जाय वह 'दानाभक्ष' और जो दाता के दान को सुपात्र विद्वानों

को देकर उनसे विद्या और धर्म की उन्नति कराता जाय, वह 'दानाध्यक्ष' कहाता है ।

प्रश्न-राजा किसको कहते हैं ?

उत्तर-जो विद्या, न्याय, जितेन्द्रियता, शौर्य, धैर्य आदि गुणों से युक्त होकर अपने पुत्र के समान प्रजा के पालन में श्रेष्ठों की यथायोग्य रक्षा और दुष्टों को दण्ड देकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति से युक्त होकर, अपनी प्रजा को कराके, आनन्दित रहता और सबको सुख से युक्त करता है वह राजा कहाता है ।

प्रश्न-प्रजा किसको कहते हैं ?

उत्तर-जैसे पुत्रादि तन, मन, धन से अपने माता पितादि की सेवा करके उनको सर्वदा प्रसन्न रखते हैं वैसे प्रजा अनेक प्रकार के धर्मयुक्त व्यवहारों से पदार्थों को सिद्ध करके राजसभा को कर देकर उनको सदा प्रसन्न रक्खे वह 'प्रजा' कहाती है और जो अपना हित और प्रजा का अहित करना चाहे वह न राजा और जो अपना हित और राजा का अहित चाहे वह प्रजा भी नहीं है किन्तु उनको एक दूसरे का शत्रु डाकू चोर समझना चाहिये । क्योंकि दोनों धार्मिक होके एक दूसरे का हित करने में नित्य प्रवर्त्तमान हों तभी उनकी राजा और प्रजा संज्ञा होती है, विपरीत की नहीं। जैसे -

अन्धेर नगरी गवर्गण्ड राजा । टके सेर भाजी टके सेर खाजा ।

एक बड़ा धार्मिक विद्वान् सभाध्यक्ष राजा यथावत् राजनीति से युक्त प्रजापालनादि उचित समय में ठीक ठीक करता था । उसकी नगरी का नाम 'प्रकाशवती' राजा का नाम 'धर्मपाल' और व्यवस्था का

नाम 'यथायोग्य करनेहारी' था । वह तो मर गया । पश्चात् उसका लड़का जो महा अधर्मी मूर्ख था उसने गद्दी पर बैठ के सभा से कहा कि जो मेरी आज्ञा माने वह मेरे पास रहे और जो न माने वह यहां से निकाला जाय । जब बड़े बड़े धार्मिक सभासद् बोले कि जैसे आपके पिता सभा की सम्मति के अनुकूल वर्त्तते थे, वैसे आप को भी वर्त्तना चाहिये ।

राजा–उनका काम उनके साथ गया, अब मेरी जैसी इच्छा होगी वैसा करूंगा ।

सभा–जो आप सभा का कहा न करेंगे तो राज्य का नाश अथवा आपका ही नाश हो जायेगा ।

राजा–मेरा तो जब होगा तब होगा परन्तु तुम यहां से चले जाओ नहीं तो तुम्हारा नाश तो मैं अभी कर दूंगा ।

सभासदों ने कहा कि **'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः'** जिसका शीघ्र नाश होना होता है उसकी बुद्धि पहिले ही से विपरीत हो जाती है । चलो । यहां अपना निर्वाह न होगा । वे चले गये और महामूर्ख धूर्त्त खुशामदी लोगों की मण्डली उसके साथ हो गई । राजा ने कहा कि आज से मेरा नाम 'गवर्गण्ड' नगरी का नाम 'अन्धेर' और जो जो मेरा पिता और सभा करती थी उससे सब काम मैं उलटा ही करूंगा। जैसे मेरा पिता और सभासद् रात में सोते और दिन में राज्यकार्य्य करते थे। उससे विपरीत हम लोग दिन में सोवें और रात में राज्यकार्य करेंगे । उनके सामने उनके राज्य में सब चीज अपने अपने भाव पर बिकती थीं, हमारे राज्य में केशर कस्तूरी से ले के मिट्टी पर्यन्त सब चीज एक टके सेर बिकेगी ।

जब ऐसी प्रसिद्धि देश देशान्तरों में हुई तब किसी स्थान में दो गुरु शिष्य वैरागी अखाड़ों में मल्लविद्या करते पांच पांच सेर खाते और बड़े मोटे थे । चेले ने गुरु से कहा कि चलिए अन्धेर नगरी में वहां दश (१०) टकों से दश (१०) सेर मलाई आदि माल चाब के खूब तैयार होंगे । गुरु ने कहा कि वहां गवर्गण्ड के राज्य में कभी न जाना चाहिये क्योंकि किसी दिन खाया पिया सब निकल जावेगा किन्तु प्राण भी बचना कठिन होगा। फिर जब चेले ने हठ किया तब गुरु भी मोह से, साथ चला गया । वहां जाके अन्धेर नगरी के समीप बगीचे में निवास किया और खूब माल चबाते और कुश्ती करते रहते थे । इतने में कभी एक आधी रात में किसी साहूकार का नौकर एक हजार रुपयों की थैली ले के किसी साहूकार की दुकान पर जमा करने को जाता था। बीच में उचक्के आकर रुपयों की थैली छीन कर भागे । उसने जब पुकारा तब थाने के सिपाहियों ने आकर पूछा कि क्या है ? उसने कहा कि अभी उचक्के मुझसे रुपयों को छीन कर इधर भागे हैं । सिपाही ने धीरे धीरे चल के किसी भले आदमी को पकड़ लिया कि तू ही चोर है । उसने कहा कि मैं फलाने साहूकार का नौकर हूं चलो पूछ लो । सिपाही-हम नहीं पूछते, चल राजा के पास । पकड़ कर राजा के पास ले जा के कहा कि इसने हजार रुपयों की थैली चोर ली है ।

गवर्गण्ड और आस-पास वालों में से किसी ने कुछ न पूछा न गाछा । वह बिचारा पुकारता ही रहा कि मैं उस साहूकार का नौकर हूं, परन्तु किसी ने न सुना । झट हुक्म चढ़ा दिया कि इसको शूली पर चढ़ा दो ।

शूली लोहे की बरछी और सरों के वृक्ष के समान अणीदार होती है उस पर मनुष्य को चढ़ा उलटा कर नाभि में उसकी अणी लगा देने से पार निकल जाने से वह कुछ विलम्ब में मर जाता है ।

गवर्गण्ड के नौकर भी उसके सदृश क्यों न हों ? क्योंकि **'समानव्यसनेषु मैत्री'** जिनका स्वभाव एकसा होता है उन्हीं की परस्पर मित्रता भी होती है । जैसे धर्मात्माओं की धर्मात्माओं, पण्डितों की पण्डितों, दुष्टों की दुष्टों और व्यभिचारियों की व्यभिचारियों के साथ मित्रता होती है । न कभी धर्मात्मादि का अधर्मात्मादि और न अधर्मात्माओं का धर्मात्माओं के साथ मेल हो सकता है ।

गवर्गण्ड के सिपाहियों ने विचारा की शूली तो मोटी और मनुष्य है पतला, अब क्या करना चाहिये । तब राजा के पास जाके सब बात कही । उस पर गवर्गण्ड ने हुक्म दिया कि अच्छा तो इस आदमी को छोड़ दो और किसी शूली के सदृश मोटे आदमी को पकड़ के इसके बदले चढ़ा दो । तब गवर्गण्ड के सिपाहियों ने विचारा कि शूली के सदृश खोजो, तब किसी ने कहा कि इस शूली के सदृश तो बगीचे वाले गुरु चेला दोनों वैरागी ही हैं। सब बोले ठीक ठीक तो उसका चेला ही है । जब बहुत से सिपाहियों ने बगीचे में जाके उसके चेले से कहा कि तुमको महाराज का हुक्म है शूली पर चढ़ने के लिए चल । तब तो वह घबरा के बोला कि हमने तो कोई अपराध नहीं किया है ।
सिपाही-अपराध तो नहीं किया परन्तु तू ही शूली के समतुल्य है हम क्या करें ?

साधु-क्या दूसरा कोई नहीं है ?

सिपाही-नहीं, बहुत बर बर मत करो । चलो । महाराज का हुक्म है ।

तब चेला गुरु से बोला कि महाराज अब क्या करना चाहिए ।

गुरु-हमने तुझ से प्रथम ही कहा था कि अन्धेर नगरी गवर्गण्ड के राज्य में मुफ्त में माल चाबने को मत चलो, तूने नहीं माना । अब हम क्या करें, जैसे हो वैसा भोगो, देख अब सब खाया पिया निकल जावेगा ।

चेला-अब किसी प्रकार बचाओ तो यहां से दूसरे राज्य में चले जावें ।

गुरु -एक युक्ति है बचने की, सो करो तो सम्भव है । शूली पर चढ़ते समय तू मुझको हठा, मैं तुझको हठाऊं, इस प्रकार परस्पर लड़ने से कुछ बचने का उपाय निकल आवेगा।

चेला-अच्छा तो चलिये ।

ये सब बातें दूसरे देश की भाषा में कीं इससे सिपाही कुछ न समझे । सिपाहियों ने कहा चलो देर मत लगाओ नहीं तो बांध के ले जायेंगे। साधुओं ने कहा कि हम प्रसन्नतापूर्वक चलते हैं तुम क्यों बांधो ?

सिपाही-अच्छा तो चलो ।

जब शूली के पास पहुंचे तब दोनों लंगोट बांध के मिट्टी लगा के खूब लड़ने लगे ।

गुरु ने कहा कि शूली पर मैं ही चढूंगा ।

चेला-चेला का धर्म नहीं कि मेरे होते गुरु शूली पर चढ़े ।

गुरु-मेरा भी धर्म नहीं कि मेरे सामने चेला शूली पर चढ़ जाय, हां, मुझ को मार कर पीछे भले ही शूली पर चढ़ जाना । क्यों बकता है चुप रह, समय चला जाता है ।

ऐसा कह कर शूली पर चढ़ने लगा । जब चेले ने गुरु को पकड़ कर धक्का देकर अलग किया, आप चढ़ने लगा । फिर गुरु ने भी वैसा ही किया। तब तो गवर्गण्ड के सिपाही कामदार सब तमाशा देखते थे। उन्होंने पूछा कि तुम शूली पर चढ़ने के लिए क्यों लड़ते हो ? तब दोनों साधु बोले कि हमसे इस बात को मत पूछो चढ़ने दो, क्योंकि हमको ऐसा समय मिलना दुर्लभ है ।

यह बात तो यहाँ ऐसी ही होती रही और गवर्गण्ड के पास खुशामदियों की सभा भरी हुई थी । आप वहां से उठ और भोजन करके सिंहासन पर बैठकर सबसे बोला कि बैंगन का शाक अत्युत्तम होता है । सुनकर खुशामदी लोग बोले कि धन्य है महाराज की बुद्धि को । बैंगन के शाक को चखते ही शीघ्र उसकी परीक्षा कर ली । सुनिये महाराज ! जब बैंगन अच्छा है तभी तो परमेश्वर ने उसके ऊपर मुकुट, चारों ओर कलंगी, ऊपर का वर्ण घनश्याम और भीतर का वर्ण मक्खन के समान बनाया है । ऐसा सुनकर गवर्गण्ड और सब सभा के लोग अति प्रसन्न होकर हँसे । जब गवर्गण्ड अपने महलों में सोने को गया, ड्योढ़ी बन्द हुई । तब खुशामदी लोगों ने चौकी पहरे वालों से कहा कि जब तक प्रातः काल हम न आवें तब तक किसी का मिलाप महाराज के साथ मत होने देना । उनने कहा कि अच्छा आज के दिन कुछ गहरी प्राप्ति नहीं हुई।

खुशामदी-आज न हुई कल हो जावेगी, हमारा और तुम्हारा तो साझा ही है। जो कुछ खजाने और प्रजा से निकाल पर अपने घर में पहुंचे वही अपना है। जब राजा को नशा और रंडीबाजी आदि खेल में सब लोग मिलकर लगा देंगे, तभी अपना गहरा होगा। और सब खजाना अपना ही है इसलिये आपस में मिले रहो, फूटना न चाहिये। सबने कहा, हां जी! हां! यही ठीक है।

ये तो चले गये। जब गवर्गण्ड सोने को गया तब गर्म मसाले पड़े हुए बैंगन के शाक ने गर्मी की और जंगल की हाजत हुई। ले लोटा जाजरू में गया, रात भर खूब जुलाब लगा। घड़ी घड़ी में कोई तीस दस्त हुए। रात्रि भर नींद न आई, बड़ा व्याकुल रहा। उसी समय वैद्यों को बुलाया। वे भी गवर्गण्ड के सदृश ही थे, ऊटपटांग औषधिया दी, उनने और भी बिगाड़ किया। क्योंकि गवर्गण्ड के पास बुद्धिमान् क्योंकर ठहर सकते हैं?

जब प्रातः काल हुआ तब खुशामदियों की मण्डली ने सभा का स्थान घेर के दासियों से पूछा कि महाराज क्या करते हैं?

दासी-आज रात भर जुलाब लगा और व्याकुल रहे।

खुशामदी-क्या कोई रात्रि में महाराज के पास आया भी था?

दासी-दस बारह जने आये थे।

खुशामदी-कौन कौन आये थे? उनके नाम भी जानती हो?

दासी-हां तीन के नाम जानती हूं, अन्य के नहीं।

तब तो खुशामदी लोग विचारने लगे कि किसी ने अपनी निन्दा तो न कर दी हो इसलिये आज से हम में से एक दो पुरुषों को रात

में ड्योढ़ी में अवश्य रहना चाहिये । सबने कहा बहुत ठीक है । इतने में जब आठ बजे के समय मुखमलीन गवर्गण्ड आकर गद्दी पर बैठा तब खुशामदियों ने भी उनसे सौगुणा मुख बिगाड़ कर शोकाकृति-मुख होकर ऊपर से झूठमूठ अपनी चेष्टा जनाई ।

गवर्गण्ड-बैंगन का शाक खाने में तो स्वादु होता है परन्तु बादी करता है । उससे हमको बहुत दस्त लगने से रात्रि भर दुःख हुआ ।

खुशामदी-वाह वाह वाह महाराज ! आपके सदृश न कोई राजा हुआ, न होगा। और न कोई इस समय है क्योंकि महाराज ने खाते समय तो उसके गुणों की परीक्षा की और रात्रि भर में उसके दोष भी जान लिये। देखिये महाराज ! जब बैंगन दुष्ट है तभी तो परमेश्वर ने उसके ऊपर खूंटी, चारों ओर कांटे लगा दिये। ऊपर का वर्ण कोयलों के समान और भीतर का रंग कोढ़ी की चमड़ी के सदृश किया है ।

गवर्गण्ड-क्योंजी ! कल रात को तो तुमने इसकी प्रशंसा में मुकुट आदि का अलंकार और इस समय उन्हीं को निन्दा में खूंटी आदि की उपमा दे दी। हम किसको सच्ची मानें ?

खुशामदी-घबरा के बोले कि धन्य धन्य धन्य है आपकी विशाल बुद्धि को ! क्योंकि कल सायं की बात अब तक भी नहीं भूले । सुनिये महाराज ! हमको साले बैंगन से क्या लेना देना था, हमको तो आपकी प्रसन्नता में प्रसन्नता और अप्रसन्नता में अप्रसन्नता है । जो आप रात को दिन और दिन को रात, सत्य को झूठ वा झूठ को सत्य कहें, सो सभी ठीक है ।

गवर्गण्ड-हाँ हाँ नौकरों का यही धर्म है कि कभी स्वामी की किसी बात में प्रत्युत्तर न दें किन्तु हाँ जी हाँ जी ही करता जाय ।

खुशामदी-ठीक है, राजाओं का यही धर्म है कि किसी बात की चिन्ता कभी न करें, रात दिन अपने सुख में मगन रहे, नौकर चाकरों पर सदा विश्वास करके सब काम उनके आधीन रक्खें । बनिये बक्काल के समान हिसाब किताब कभी न देखें । जो कुछ सुपेद का काला और काले का सुपेद करें सो ही ठीक रक्खें। जिस दरख्त को लगावें उसको कभी न काटें, जिसको ग्रहण किया उसको कभी न छोड़े चाहे कितना ही अपराध करें, क्योंकि राजा होके भी जब किसी काम पर ध्यान देकर आप अपने आत्मा, मन और शरीर से यदि परिश्रम किया तो जानो उनका कर्म फूट गया और जब हिसाब आदि में दृष्टि की तो वह महादरिद्र है, राजा नहीं।

गवर्गण्ड-क्योंजी ! कोई मेरे समान राजा और तुम्हारे सदृश सभासद् कभी हुए होंगे और आगे कोई होंगे वा नहीं ?

खुशामदी-नहीं, नहीं, नहीं, कदापि नहीं ।

गवर्गण्ड-सत्य है, क्या ईश्वर भी हमसे अधिक उत्तम होगा ?

खुशामदी-कभी नहीं हो सकता, क्योंकि उसको किसने देखा है । आप तो साक्षात् परमेश्वर हैं, क्योंकि आपकी कृपा से दरिद्र का धनाढ्य, अयोग्य से योग्य और अकृपा से धनाढ्य का दरिद्र, योग्य से अयोग्य तत्काल ही हो सकता है ।

इतने में नियत किये प्रातः काल को सायंकाल मानकर सोने को सब लोग गये । जब सांयकाल हुआ तब जगे और फिर सभा लगी । इतने में सिपाहियों ने आकर साधुओं के झगड़े की बात कही । सुनकर गवर्गण्ड ने सभा सहित वहां जाके साधुओं से पूछा कि तुम शूली पर

चढ़ने के लिए क्यों सुख मानते हो ?

साधु-तुम हमसे मत पूछो, चढ़ने दो, समय चला जाता है । ऐसा समय हमको बड़े भाग्य से मिला है ।

गवर्गण्ड-इस समय में शूली पर चढ़ने से क्या फल होगा ?

साधु-हम नहीं कहते, जो चढ़ेगा वह फल देख लेगा, हमको चढ़ने दो।

गवर्गण्ड-नहीं नहीं जो फल होता हो सो कहो । सिपाहियो ! इनको इधर पकड़ लाओ ।

लाये ।

साधु-हमको क्यों नहीं चढ़ने देते ? झगड़ा क्यों करते हो ?

गवर्गण्ड-जब तक तुम इसका फल न कहोगे तब तक हम कभी न चढ़ने देंगे।

साधु-दूसरे को कहने की तो यह बात नहीं है परन्तु तुम हठ करते हो तो सुनो। जो कोई मनुष्य इस समय में शूली पर चढ़कर प्राण को छोड़ेगा, वह चतुर्भुज होकर विमान में बैठ के आनन्द स्वरूप स्वर्ग को प्राप्त होगा।

गवर्गण्ड-अहो ! ऐसी बात है तो मैं ही चढ़ता हूँ, तुमको न चढ़ने दूंगा।

ऐसा कहकर झट आप ही शूली पर चढ़कर प्राण छोड़ दिये । साधु अपने आसन पर आये । चेले ने कहा कि महाराज चलिये, यहां अब रहना न चाहिये। गुरु ने कहा कि अब कुछ चिन्ता नहीं, जो पाप की जड़ था वह मर गया । अब धर्म का राज्य होगा, क्या चिन्ता है, यहीं रहो । उसी समय उसका छोटा भाई बड़ा विद्वान् पिता के सदृश धार्मिक और जो उसके पिता के सामने धार्मिक सभासद् और प्रजा में

से सत्पुरुष जो कि उसके पिता के मरने के पश्चात् गवर्गण्ड ने निकाल दिये थे वे सब आके सुनीति नामक छोटे भाई को राज्याधिकारी करके उसके मुरदे को शूली पर से उतार के जला दिया और खुशामदियों की मण्डली को अत्युग्र दण्ड दे के कुछ कैद कर दिये और बहुतों को नौका में बैठाकर किसी समुद्र के बीच निर्जन द्वीपान्तर में बन्धीखाने में डालकर, अत्युत्तम विद्वान् धार्मिकों की सम्मति से श्रेष्ठों का पालन, दुष्टों का ताडन, विद्या, विज्ञान और सत्यधर्म की वृद्धि आदि उत्तम कर्म करके पुरुषार्थ से यथायोग्य राज्य की व्यवस्था चलाने लगे और पुनः प्रकाशवती नगरी नाम का प्रकाश हुआ और उचित समय पर सब उत्तम काम होने लगे।

जब जिस देशस्थ प्राणियों का अभाग्योदय होता है तब गवर्गण्ड के सदृश स्वार्थी अधर्मी प्रजा का विनाश करनेहारा राजा, धनाढ्य खुशामदियों की राजसभा और उनके समतुल्य अधर्मी उपद्रवी राजविद्रोही प्रजा भी होती है और जब जिस देशस्थ प्राणियों का सौभाग्योदय होने वाला होता है तब सुनीति के समान धार्मिक, विद्वान्, पुत्रवत् प्रजा का पालन करने वाली राजसहित सभा और धार्मिक पुरुषार्थी पिता के समान राजसम्बन्ध में प्रीतियुक्त मंगलकारिणी प्रजा होती है । जहां अभाग्योदय वहां विपरीतबुद्धि मनुष्य परस्पर द्रोहादिस्वरूप धर्म से विपरीत दुःख के ही काम करते जाते हैं और जहां सौभाग्योदय वहां परस्पर उपकार, प्रीति, विद्या, सत्य धर्म आदि उत्तम कार्य अधर्म से अलग होकर करते रहते हैं, वे सदा आनन्द को प्राप्त होते हैं ।

जो मनुष्य विद्या कम भी जानता हो परन्तु पूर्वोक्त दुष्ट व्यवहारों को छोड़कर धार्मिक होके खाने-पीने, बोलने-सुनने, बैठने-उठने, लेने-देने आदि व्यवहार सत्य से युक्त यथायोग्य करता है वह कही कभी दुःख को नहीं प्राप्त होता और जो सम्पूर्ण विद्या पढ़ के पूर्वोक्त उत्तम व्यवहारों को छोड़ के दुष्ट कर्मों को करता है वह कहीं कभी सुख को प्राप्त नहीं हो सकता । इसलिए सब मनुष्यों को उचित है कि अपने लडके, लड़की, इष्टमित्र, अडोसी-पड़ोसी और स्वामी, भृत्य आदि को विद्या और सुशिक्षा से युक्त करके सर्वदा आनन्द करते रहें ।।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीरचितो

व्यवहारभानुः समाप्तः ।।

❁ ओ३म् ❁

आर्य्याभिविनयः

प्राकृतभाषानुवादसहितः

श्रीमद्दयानन्दसरस्वती स्वामिनानिर्मितः

सर्वलोकहिताय

अकारादिक्रमेण

मन्त्रानुक्रमणिका

* ओ३म् *

अथार्य्याभिविनयोपक्रमणिकाविचारः ।

सर्वात्मा सच्चिदानन्दोऽनन्तो यो न्यायकृच्छुचिः ।
भूयात्तमां सहायो नो दयालुः सर्वशक्तिमान् ।। १ ।।

चक्षूरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे चैत्रे मासि सिते दले ।
दशम्यां गुरुवारेऽयं ग्रन्थारम्भः कृतो मया ।। २ ।।

बहुभिः प्रार्थितः सम्यग् ग्रन्थारम्भः कृतोऽधुना ।
हिताय सर्वलोकानां ज्ञानाय परमात्मनः ।।३।।

वेदस्य मूलमन्त्राणां व्याख्यानं लोकभाषया ।
क्रियते सुखबोधाय ब्रह्मज्ञानाय सम्प्रति ।।४।।

स्तुत्युपासनयोः सम्यक् प्रार्थनायाश्च वर्णितः ।
विषयो वेदमन्त्रैश्च सर्वेषां सुखवर्द्धनः ।।५।।

विमलं सुखदं सततं सुहितं जगति प्रततं तदु वेदगतम् ।
मनसि प्रकटं यदि यस्य सुखी स नरोस्ति सदेश्वरभागधिकः ।।६।।

विशेषभागीह वृणोति यो हितं,
नरः परात्मानमतीव मानतः ।
अशेषदुःखात्तु विमुच्य विद्यया,
स मोक्षमाप्नोति न कामकामुकः ॥७॥

व्याख्यान—जो परमात्मा, सबका आत्मा सत् चित् आनन्दस्वरूप, अनन्त, अज, न्यायकारी, निर्मल, सदा पवित्र, दयालु, सब सामर्थ्यवाला हमारा इष्ट-देव है वह हमको सहाय नित्य देवे जिससे महा कठिन काम भी हम लोग सहज से करने को समर्थ हों। हे कृपानिधे ! यह काम हमारा आप ही सिद्ध करनेवाले हो, हम आशा करते हैं कि आप अवश्य हमारी कामना सिद्ध करेंगे ॥ १ ॥

संवत् १९३२ मिती चैत्र सुदी १० गुरुवार के दिन इस ग्रन्थ का आरम्भ किया है ॥ २ ॥

बहुत सज्जन लोग, सबके हितकारक धर्मात्मा विद्वान् विचारशील जनों ने मुझसे प्रीति से कहा तब सब लोगों के हित और यथार्थ परमेश्वर का ज्ञान तथा प्रेम भक्ति यथावत् हो इसलिये इस ग्रन्थ का आरम्भ किया है ॥ ३ ॥

इस ग्रन्थ में केवल दो वेदों के मूलमन्त्रों का प्राकृत भाषा में व्याख्यान किया है जिससे सब लोगों को सुखपूर्वक बोध हो और ब्रह्मज्ञान यथार्थ हो ॥ ४ ॥

इस ग्रन्थ में वेदमन्त्रों से सब सुखों की बढ़ानेवाली परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना व उपासना तथा धर्म्मादि विषय का वर्णन किया है ॥ ५ ॥

जो ब्रह्म विमलसुखकारक पूर्णकाम, तृप्त, जगत् में व्याप्त वही सब वेदों से प्राप्य है, जिसके मन में इस ब्रह्म की प्रकटता (यथार्थ विज्ञान) है वही

मनुष्य ईश्वर के आनन्द का भागी है और वही सबसे सदैव अधिक सुखी है। ऐसे मनुष्य को धन्य है ॥ ६ ॥

जो नर इस संसार में अत्यन्त प्रेम, धर्मात्मता, विद्या, सत्सङ्ग, सुविचारता, निर्वैरता, जितेन्द्रियता, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परमात्मा का स्वीकार (आश्रय) करता है वही जन अतीव भाग्यशाली है क्योंकि वह मनुष्य यथार्थ सत्यविद्या से सम्पूर्ण दु.खो से छूट के परमानन्द परमात्मा की प्राप्तिरूप जो मोक्ष उसको प्राप्त होता है और दु.खसागर से छूट जाता है परन्तु जो विषय-लम्पट, विचाररहित, विद्या, धर्म, जितेन्द्रियता, सत्सङ्गरहित, छल, कपट, अभिमान, दुराग्रहादि दुष्टतायुक्त है सो वह मोक्ष सुख को प्राप्त नही होता क्योंकि वह ईश्वरभक्ति से विमुख है ॥ ७ ॥

इसलिये जन्म मरण ज्वरादि पीड़ाओं से पीड़ित होके सदा दुःखसागर में ही पड़ा रहता है, इससे सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर और उसकी आज्ञा से विरुद्ध कभी नहीं हों किन्तु ईश्वर तथा उसकी आज्ञा में तत्पर होके इस लोक (संसार-व्यवहार) और परलोक (जो पूर्वोक्त मोक्ष) इसकी सिद्धि यथावत् करें यही मनुष्यो की कृतकृत्यता है। इस आर्याभिविनय ग्रन्थ में मुख्यता से वेदमन्त्रों का परमेश्वर-सम्बन्धी एक ही अर्थ संक्षेप से किया गया है, दोनों अर्थ करने से ग्रन्थ बढ़ जाता इससे व्यवहारविद्यासम्बन्धी अर्थ नहीं किया गया, परन्तु वेदों के भाष्य में यथावत् विस्तारपूर्वक परमार्थ और व्यवहारार्थ ये दोनों अर्थ सप्रमाण किये जायेंगे—जैसे (तदेवाऽग्निस्तदादित्यस्तद्वायुरित्यादि य० संहिता प्र०, इन्द्रं मित्रं वरुणमित्यादि० ऋ० सं० प्र०, बृहस्पतिर्वै ब्रह्म गणपतिर्वै ब्रह्म, प्राणो वै ब्रह्म, आपो वै ब्रह्म, ब्रह्म ह्यग्निरित्यादि, शतपथ ऐतरेय ब्राह्मणादि प्र०, और महान्तमेवात्मानमित्यादि०) निरुक्तादि प्रमाणों से परब्रह्म ही अर्थ लिया जाता है। तथा मुखादग्निरजायतेत्यादि, य० सं० प्र०, वायोरग्निरित्यादि० ब्राह्मण प्र० तथा अग्निरग्रणीर्भवतीत्यादि निरुक्त प्रमाणो से यह प्रत्यक्ष जो रूप गुणवाला दाह प्रकाशयुक्त भौतिक अग्नि वह लिया जाता

है इत्यादि दृढ़ प्रमाण, युक्ति और प्रत्यक्ष व्यवहार से दोनों अर्थ वेदभाष्य में लिखे जायेंगे जिससे सायणादिकृत भाष्य-दोष और उसके अनुसार अंग्रेजी कृतार्थदोष रूप वेदों के कलङ्क निवृत्त होजायेंगे और वेदों के सत्यार्थ का प्रकाश होने से, वेदों का महत्त्व तथा वेदों का अनन्तार्थ जानने से मनुष्यों को महालाभ और वेदो मे यथावत् प्रीति होगी । इस ग्रन्थ से तो केवल मनुष्यो को ईश्वर का स्वरूपज्ञान और भक्ति, धर्मनिष्ठा, व्यवहारशुद्धि इत्यादि प्रयोजन सिद्ध होगे जिससे नास्तिक और पाखण्डमतादि अधर्म में मनुष्य न फसें । किञ्च सब प्रकार के मनुष्य प्रति उत्तम हों और सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की कृपा सब मनुष्यों पर हो, जिससे सब मनुष्य दुष्टता को छोड़ के श्रेष्ठता को स्वीकार करें, यह मेरी परमात्मा से प्रार्थना है सो परमेश्वर अवश्य पूरी करेगा ॥

इत्युपक्रमणिका संक्षेपतः सम्पूर्णा ॥
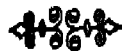
॥ ओ३म् ॥

तत् सत् परब्रह्मणे नमः ॥

अथार्याभिविनयः प्रारम्भः ॥

ओं । शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्य्यमा ।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ १ ॥

ऋ० अ० १ । अ० ६ । व० १८ । मं० ९ ॥ ॥

व्याख्यान—हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप, हे नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, हे अद्वितीयानुपमजगदादिकारण, हे अज निराकार सर्वशक्तिमन्, न्यायकारिन्, हे जगदीश, सर्वजगदुत्पादकाधार, हे सनातन, सर्वमङ्गलमय, सर्वस्वामिन्, हे करुणाकरास्मत्पितः परमसहायक, हे सर्वानन्दप्रद, सकलदुःखविनाशक, हे अविद्यान्धकारनिर्मूलक, विद्यार्कप्रकाशक, हे परमैश्वर्यदायक, साम्राज्यप्रसारक, हे अधमोद्धारक, पतितपावन, मान्यप्रद, हे विश्वविनोदक, विनयविधिप्रद, हे विश्वासविलासक, हे निरञ्जन, नायक, शर्मद, नरेश, निर्विकार, हे सर्वान्तर्यामिन्, सदुपदेशक, मोक्षप्रद, हे सत्यगुणाकर, निर्मल, निरीह, निरामय, निरुपद्रव, दीनदयाकर परमसुखदायक, हे दारिद्र्यविनाशक, निर्वैरविधायक, सुनीतिवर्धक, हे प्रीतिसाधक, राज्यविधायक,

---

॥ यह संख्या इस भाग में सर्वत्र यथावत् जान लेना, क्योंकि आगे केवल अङ्क संख्या लिखी जायगी ।

ऋ० १ । ६ । १८ । ९ ॥ इनसे अष्टक, अध्याय, वर्ग, मन्त्र जान लेना ।

शत्रुविनाशक, हे सर्वबलदायक, निर्बलपालक, हे सुधर्मसुप्रापक, हे अर्थसुसाधक, सुकामवर्द्धक, ज्ञानप्रद, हे सन्ततिपालक, धर्म्मसुशिक्षक, रोगविनाशक, हे पुरुषार्थप्रापक, दुर्गुणनाशक, सिद्धिप्रद, हे सज्जन-सुखद, दुष्टसुताड़न, गर्वकुक्रोधकुलोभविदारक, हे परमेश, परेश, परमात्मन्, परब्रह्मन्, हे जगदानन्दक, परमेश्वर व्यापक सूक्ष्माच्छेद्य, हे अजरामृताभयनिर्बन्धनादे, हे अप्रतिमप्रभाव, निर्गुणातुल, विश्वाद्य, विश्ववन्द्य, विद्वद्विलासक, इत्याद्यनन्तविशेषणवाच्य, हे मगलप्रदेश्वर! आप सर्वथा सबके निश्चित मित्र हो, हमको सत्यसुखदायक सर्वदा हो, हे सर्वोत्कृष्ट, स्वीकरणीय, वरेश्वर! आप वरुण अर्थात् सबसे परमोत्तम हो, सो आप हम को परमसुखदायक हो, हे पक्षपातरहित, धर्म्मन्यायकारिन्! आप अर्य्यमा (यमराज) हो इससे हमारे लिये न्याययुक्त सुख देनेवाले आप ही हो, हे परमैश्वर्य्यवन्, इन्द्रेश्वर! आप हमको परमैश्वर्ययुक्त शीघ्र स्थिर सुख दीजिये। हे महाविद्या-वाचोधिपते, बृहस्पते, परमात्मन्! हम लोगों को (बृहत्) सबसे बड़े सुख को देनेवाले आप ही हो, हे सर्वव्यापक, अनंत पराक्रमेश्वर विष्णो! आप हमको अनंत सुख देओ, जो कुछ मांगेंगे सो आपसे ही हम लोग मांगेंगे, सब सुखों का देनेवाला आपके विना कोई नहीं है, सर्वथा हम लोगों को आपका ही आश्रय है। अन्य किसी का नहीं क्योंकि सर्वशक्तिमान् न्यायकारी दयामय सबसे बड़े पिता को छोड़ के नीच का आश्रय हम लोग कभी न करेंगे, आपका तो स्वभाव ही है कि अङ्गीकृत को कभी नहीं छोड़ते सो आप सदैव हमको सुख देंगे, यह हम लोगों को दृढ़ निश्चय है ।। १ ।।

मूलमन्त्र स्तुति विषय

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म् ।
होता॑रं रत्न॒धात॑मम् ॥ २ ॥ ऋ० १ । १ । १ । १ ॥

व्याख्यान—हे वन्द्येश्वराग्ने ! आप ज्ञानस्वरूप हो, आपकी मैं स्तुति करता हूं ।

सब मनुष्यों के प्रति परमात्मा का यह उपदेश है, हे मनुष्यो ! तुम लोग इस प्रकार से मेरी स्तुति, प्रार्थना और उपासनादि करो जैसे पिता वा गुरु अपने पुत्र वा शिष्य को शिक्षा करता है कि तुम पिता वा गुरु के विषय मे इस प्रकार से स्तुति आदि का वर्त्तमान करना, वैसे सबके पिता और परम गुरु ईश्वर ने हमको कृपा से सब व्यवहार और विद्यादि पदार्थों का उपदेश किया है जिससे हमको व्यवहार ज्ञान और परमार्थ ज्ञान होने से अत्यन्त सुख हो । जैसे सब का आदिकारण ईश्वर है वैसे परम विद्या वेद का भी आदिकारण ईश्वर है ।

हे सर्वहितोपकारक ! आप "पुरोहितम्" सब जगत् के हितसाधक हो, हे यज्ञदेव ! सब मनुष्यों के पूज्यतम और ज्ञान-यज्ञादि के लिये कमनीयतम हो 'ऋत्विजम्" सब ऋतु वसन्त आदि के रचक, अर्थात् जिस समय जैसा सुख चाहिये उस सुख के सम्पादक आप ही हो "होतारम्" सब जगत् को समस्त योग और क्षेम के देनेवाले हो और प्रलय समय में कारण में सब जगत् का होम करनेवाले हो "रत्नधातमम्" रत्न अर्थात् रमणीय पृथिव्यादिकों के धारण, रचन करनेवाले तथा अपने सेवकों के लिये रत्नों के धारण करनेवाले एक आप ही हो । हे सर्वशक्तिमन् परमात्मन् ! इसलिये मैं वारम्वार आपकी स्तुति करता हूं इसको आप स्वीकार कीजिये, जिससे हम लोग आपके कृपापात्र होके सदैव आनन्द में रहें ॥ २ ॥

मूल प्रार्थना

अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवेदिवे ।
यशसं वीरवत्तमम् ॥ ३ ॥ ऋ० १ । १ । १ । ३ ॥

व्याख्यान—हे महादातः, ईश्वराग्ने ! आप की कृपा से स्तुति करनेवाला मनुष्य "रयिम्" उस विद्यादि धन तथा सुवर्णादि धन को अवश्य प्राप्त होता है कि जो धन प्रतिदिन "पोषमेव" महापुष्टि करने और सत्कीर्ति को बढ़ानेवाला तथा जिससे विद्या, शौर्य्य, धैर्य्य, चातुर्य, बल, पराक्रम और दृढ़ाङ्ग, धर्मात्मा, न्याययुक्त, अत्यन्त वीर पुरुष प्राप्त हों वैसे सुवर्ण रत्नादि तथा चक्रवर्त्ती राज्य और विज्ञानरूप धन को प्राप्त होऊं तथा आपकी कृपा से सदैव धर्मात्मा होके अत्यन्त सुखी रहूं ॥ ३ ॥

मूल स्तुति

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।
स देवाँ एह वक्षति ॥ ४ ॥ ऋ० १ । १ । १ । २ ॥

व्याख्यान—हे सब मनुष्यों के स्तुति करने योग्य ईश्वराग्ने ! "पूर्वेभिः" विद्या पढ़े हुए प्राचीन "ऋषिभिः" मन्त्रार्थ देखनेवाले विद्वान् और "नूतनैः" वेदार्थ पढ़नेवाले नवीन ब्रह्मचारियों से "ईड्यः" स्तुति के योग्य "उत" और जो हम लोग मनुष्य विद्वान् वा मूर्ख हैं उनसे भी अवश्य आप ही स्तुति के योग्य हो सो स्तुति को प्राप्त हुए आप हमारे और सब संसार के सुख के लिये दिव्यगुण अर्थात् विद्यादि को कृपा से प्राप्त करो, आप ही सबके इष्टदेव हो ॥ ४ ॥

मूल स्तुति

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः ।
देवो देवेभिरा गमत् ॥ ५ ॥ ऋ० १ । १ । १ । ५ ॥

व्याख्यान—हे सर्वदृक् ! सबको देखनेवाले "क्रतु:" सब जगत् के जनक "सत्य:" अविनाशी अर्थात् कभी जिनका नाश नहीं होता, "चित्रश्रवस्तम:" आश्चर्य्यश्रवणादि, आश्चर्य्यगुण, आश्चर्य्यशक्ति, आश्चर्यरूपवान् और अत्यन्त उत्तम आप हो, जिन आपके तुल्य वा आप से बडा कोई नहीं है, हे जगदीश ! "देवेभि:" दिव्य गुणों के सह वर्त्तमान हमारे हृदय में आप प्रकट हों, सब जगत् में भी प्रकाशित हों जिससे हम और हमारा राज्य दिव्यगुणयुक्त हो । वह राज्य आपका ही है, हम तो केवल आपके पुत्र तथा भृत्यवत् हैं ॥ ५ ॥

मूल प्रार्थना

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि ।
तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः ॥ ६ ॥ ऋ० १ । १ । २ । १ ॥

व्याख्यान—हे "अङ्ग" मित्र ! जो आपको आत्मादि दान करता है उसको "भद्रम्" व्यावहारिक और पारमार्थिक सुख अवश्य देते हो, हे "अङ्गिर:" प्राणप्रिय ! यह आप का सत्यव्रत है कि स्वभक्तों को परमानन्द देना, यही आपका स्वभाव हमको अत्यन्त सुखकारक है, आप मुझको ऐहिक और पारमार्थिक इन दोनों सुखों का दान शीघ्र दीजिये जिससे सब दुःख दूर हों । हमको सदा सुख ही रहे ॥ ६ ॥

मूल स्तुति

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः ।

तेषां पाहि श्रुधी हवम् ॥ ७ ॥ ऋ० १। १। ३। १॥

व्याख्यान—हे अनन्तबल परेश वायो दर्शनीय ! आप अपनी कृपा से ही हमको प्राप्त हो, हम लोगों ने अपनी अल्पशक्ति से सोम (सोमवल्यादि) ओषधियों का उत्तम रस सम्पादन किया है और जो कुछ भी हमारे श्रेष्ठ पदार्थ हैं वे आपके लिये "अरङ्कृताः" अलङ्कृत अर्थात् उत्तम रीति से हमने बनाये हैं और वे सब आपके समर्पण किये गये हैं उनको आप स्वीकार करो (सर्वात्मा से पान करो)। हम दीनों की दीनता सुनकर जैसे पिता को पुत्र छोटी चीज समर्पण करता है उस पर पिता अत्यन्त प्रसन्न होता है वैसे आप हम पर होओ ॥७॥

मूल प्रार्थना

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।

यज्ञं वष्टु धिया वसुः ॥ ८ ॥ ऋ० १। १। ६। १०॥

व्याख्यान—हे वाक्पते ! सर्वविद्यामय ! हमको आपकी कृपा से "सरस्वती" सर्वशास्त्रविज्ञानयुक्त वाणी प्राप्त हो, "वाजेभिः" तथा उत्कृष्ट अन्नादि के साथ वर्त्तमान "वाजिनीवती" सर्वोत्तम क्रिया विज्ञानयुक्त "पावका" पवित्रस्वरूप और पवित्र करनेवाली सत्य-भाषणमय मङ्गलकारक वाणी आपकी प्रेरणा से प्राप्त होके आपके अनुग्रह से परमोत्तम बुद्धि के साथ वर्त्तमान "वसुः" निधिस्वरूप यह वाणी "यज्ञं वष्टु" सर्वशास्त्रबोध और पूजनीयतम आपके विज्ञान की कामनायुक्त सदैव हो, जिससे हमारी सब मूर्खता नष्ट हो और हम महापाण्डित्ययुक्त हों ॥ ८ ॥

मूल स्तुति

पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्य्याणाम् ।
इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥ ९ ॥ ऋ० १ । १ । ९ । २ ॥

व्याख्यान—हे परात्पर परमात्मन् ! आप "पुरूतमम्" अत्यन्तोत्तम और सर्वशत्रुविनाशक हो तथा बहुविध जगत् के पदार्थों के "ईशान" स्वामी और उत्पादक हो, "वार्य्याणाम्" वर, वरणीय, परमानन्द मोक्षादि पदार्थों के भी ईशान हो, "सोमे" और उत्पत्तिस्थान ससार आपसे उत्पन्न होने से "इन्द्रम्" परमैश्वर्य्यवान् आपको (अभि प्र गायत*) हृदय में अत्यन्त प्रेम से गावें, (यथावत्) स्तुति करें जिससे आपकी कृपा से हम लोगों का भी परमैश्वर्य्य बढ़ता जाय और परमानन्द को प्राप्त हों ॥ ९ ॥

मूल प्रार्थना

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियंजिन्वमवसे हूमहे वयम् ।
पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥१०॥

ऋ० १ । ६ । १५ । ५ ॥

व्याख्यान—हे सर्वाधिस्वामिन् ! आप ही चर और अचर जगत् के ईशान (रचनेवाले) हो, 'धियंजिन्वम्" सर्वविद्यामय विज्ञानस्वरूप बुद्धि को प्रकाशित करनेवाले प्रीणनीयस्वरूप "पूषा" सब के पोषक हो, उन आपका हम "नः, अवसे" अपनी रक्षा के लिये "हूमहे" आह्वान करते हैं । "यथा" जिस प्रकार से आप हमारे विद्यादि धनों की वृद्धि वा रक्षा के लिये "अदब्धः रक्षिता" निरालस रक्षा करने में

---

* इन पदों की अनुवृत्ति मंत्र १ । १ । ९ । १ से आई है ।

तत्पर हो वैसे ही कृपा करके आप "स्वस्तये" हमारी स्वस्थता के लिये "पायुः" निरन्तर रक्षक (विनाशनिवारक) हो, आपसे पालित हम लोग, सदैव उत्तम कामों में उन्नति और आनन्द को प्राप्त हों ॥ १० ॥

मूल स्तुति

अतो॑ दे॒वा अ॑वन्तु नो॒ यतो॒ विष्णु॑र्वि॑चक्र॒मे ।

पृ॒थि॒व्याः स॒प्त धाम॑भिः ॥ ११ ॥ ऋ० १ । २ । ७ । १६ ॥

व्याख्यान—हे "देवाः" विद्वानो ! "विष्णुः" सर्वत्र व्यापक परमेश्वर ने सब जीवों को पाप तथा पुण्य का फल भोगने और सब पदार्थों के स्थित होने के लिये, पृथिवी से ले के सप्तविध लोक "धामभिः" अर्थात् ऊंचे-नीचे स्थानों से संयुक्त बनाये तथा गायत्र्यादि सात छन्दों से विस्तृत विद्यायुक्त वेद को भी बनाया उन लोकों के साथ वर्त्तमान व्यापक ईश्वर ने "यतः" जिस सामर्थ्य से सब लोकों को रचा है "अतः" (सामर्थ्यात्) उस सामर्थ्य से हम लोगों की रक्षा करे । हे विद्वानो ! तुम लोग भी उसी विष्णु के उपदेश से हमारी रक्षा करो । कैसा है वह विष्णु ? जिसने इस सब जगत् को "विचक्रमे" विविध प्रकार से रचा है, उसकी नित्य भक्ति करो ॥ ११ ॥

मूल प्रार्थना

पा॒हि नो॑ अग्ने र॒क्षसः॑ पा॒हि धू॒र्तेररा॑व्णः ।

पा॒हि रीष॑त उ॒त वा॒ जिघां॑सतो॒ बृह॑द्भानो॒ यवि॑ष्ठ्य ॥१२॥

ऋ० १ । ३ । १० । १५ ॥

व्याख्यान—हे सर्वशत्रुदाहकाग्ने परमेश्वर ! राक्षस हिंसाशील-दुष्टस्वभाव देहधारियों से "नः" हमारी "पाहि" पालना करो "धूर्त्तेरराव्णः" कृपण जो धूर्त्त उस मनुष्य से भी हमारी रक्षा करो। जो हमको मारने लगे तथा जो मारने की इच्छा करता है, हे महातेज बलवत्तम ! उन सबसे हमारी रक्षा करो ॥ १२ ॥

मूल स्तुति

त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः ।
चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसोऽपः स्वः परिभूरेष्या दिवम् ॥१३॥

ऋ० १ । ४ । १४ । १२ ॥

व्याख्यान—हे परमैश्वर्य्यवन् परात्मन् ! आकाश लोक के पार में तथा भीतर अपने ऐश्वर्य और बल से विराजमान होके दुष्टों के मन को धर्षण तिरस्कार करते हुए सब जगत् तथा विशेष हम लोगों के "अवसे" सम्यक् रक्षण के लिये "त्वम्" आप सावधान हो रहे हो इससे हम निर्भय हो के आनन्द कर रहे हैं, किञ्च "दिवम्" परमाकाश "भूमिम्" भूमि तथा "स्वः" सुखविशेष मध्यस्थ लोक इन सबों को अपने सामर्थ्य से ही रच के यथावत् धारण कर रहे हो, "परिभूः एषि" सब पर वर्त्तमान और सबको प्राप्त हो रहे हो, "आदिवम्" द्योतनात्मक सूर्यादि लोक "आपः" अन्तरिक्षलोक और जल इन सबके प्रतिमान (परिमाण) कर्ता आप ही हो, तथा आप अपरिमेय हो, कृपा करके हमको अपना तथा सृष्टि का विज्ञान दीजिये ॥ १३ ॥

मूल प्रार्थना

विजा॑नी॒ह्यार्या॒न् ये च॒ दस्य॑वो ब॒र्हिष्म॑ते रन्धया॒ शास॑दव्र॒तान् ।
शाकी॑ भव॒ यज॑मानस्य चोदि॒ता विश्वेत्ता ते॑ सध॒मादे॑षु चाकन ॥१४॥

ऋ० १ । ४ । १० । ८ ॥

व्याख्यान—हे यथायोग्य सबको जाननेवाले ईश्वर ! आप "आर्यान्" विद्या धर्म्मादि उत्कृष्ट स्वभावाचरणयुक्त आर्यों को जानो, "ये च दस्यव." और जो नास्तिक, डाकू, चोर, विश्वासघाती, मूर्ख, विषयलम्पट, हिंसादिदोषयुक्त उत्तम कर्म्म में विघ्न करनेवाले, स्वार्थी, स्वार्थसाधन में तत्पर, वेदविद्याविरोधी, अनार्य (अनाड़ी) मनुष्य "बर्हिष्मते" सर्वोपकारक यज्ञ के विध्वंस करनेवाले हैं इन सब दुष्टों को आप "रन्धय" (समूलान् विनाशय) मूलसहित नष्ट कर दीजिये और "शासदव्रतान्" ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासादि धर्म्मानुष्ठानव्रतरहित वेदमार्गोच्छेदक अनाचारियों को यथायोग्य शासन करो (शीघ्र उन पर दण्ड निपातन करो) जिससे वे भी शिक्षायुक्त हो के शिष्ट हों अथवा उनका प्राणान्त हो जाय किंवा हमारे वश में ही रहें, "शाकी" तथा जीव को परम शक्तियुक्त शक्ति देने और उत्तम कामों में प्रेरणा करनेवाले हो, आप हमारे दुष्ट कामों से निरोधक हो, मैं भी "सधमादेषु" उत्कृष्ट स्थानों में निवास करता हुआ "विश्वेत्ता ते" तुम्हारी आज्ञानुकूल सब उत्तम कर्म्मों की "चाकन" कामना करता हूँ सो आप पूरी करें ॥ १४ ॥

मूल स्तुति

**न यस्य द्यावापृथिवी अनु व्यचो न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः।
नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक्॥१५॥**

ऋ० १।४।१४।१४॥

व्याख्यान—हे परमैश्वर्ययुक्तेश्वर ! आप इन्द्र हो, हे मनुष्यो ! जिस परमात्मा का अन्त इतना है यह न हो, उसको व्याप्ति का परिच्छेद (इयत्ता) परिमाण कोई नहीं कर सकता तथा "द्यावा" अर्थात् सूर्य्यादिलोक सर्वोपरि आकाश तथा "पृथिवी" मध्य निकृष्ट-लोक ये कोई उसके आदि अन्त को नहीं पाते क्योंकि "अनुव्यचः" वह सबके बीच में अनुस्यूत (परिपूर्ण) हो रहा है तथा "न सिन्धवः" अन्तरिक्ष में जो दिव्यजल तथा सब लोक सो भी अन्त नहीं पा सकते "नोत स्ववृष्टि मदे" वृष्टिप्रहार से युद्ध करता हुआ वृत्र (मेघ) तथा बिजुली गर्जन आदि भी ईश्वर का पार नहीं पा सकते*, हे परमात्मन् ! आपका पार कौन पा सके ? क्योंकि "एकः" एक (अपने से भिन्न सहायरहित) स्वसामर्थ्य से ही "विश्वम्" सब जगत् को "आनुषक्" आनुषक्त अर्थात् उसमें व्याप्त होते और "चकृषे" (कृतवान्) आपने ही उत्पन्न किया है, फिर जगत् के पदार्थ आपका पार कैसे पा सकें तथा (अन्यत्) आप जगत् रूप कभी नहीं बनते, न अपने में से जगत् को रचते हो किन्तु अनन्त अपने सामर्थ्य से ही जगत् का रचन, धारण और लय यथाकाल में करते हो, इससे आपका सहाय हम लोगों को सदैव है ॥ १५ ॥

---

* जैसे कोई मद में मग्न होके रणभूमि में युद्ध करे, वैसे मेघ का भी दृष्टान्त जानना ॥

मूल प्रार्थना

ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसो नि केतुना विश्वं समत्रिणं दह।
कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे विदा देवेषु नो दुवः ॥१६॥

ऋ० १।३।१०।१४॥

व्याख्यान—हे सर्वोपरि विराजमान परब्रह्म ! आप (ऊर्ध्वः) सबसे उत्कृष्ट हो, हमको कृपा से उत्कृष्ट गुणवाले करो तथा ऊर्ध्व देश में हमारी रक्षा करो, हे सर्वपापप्रणाशकेश्वर ! हमको "केतुना" विज्ञान अर्थात् विविध विद्यादान देके "अंहसः" अविद्यादि महापाप से "नि पाहि" (नितरां पाहि) सदैव अलग रक्खो तथा "विश्वम्" इस सकल संसार का भी नित्य पालन करो, हे सत्यमित्रन्यायकारिन् जो कोई प्राणी "अत्रिणम्" हमसे शत्रुता करता है उसको और काम क्रोधादि शत्रुओं को आप "सन्दह" सम्यक् भस्मीभूत करो (अच्छे प्रकार जलाओ), "कृधी न ऊर्ध्वान्" हे कृपानिधे ! हमको विद्या, शौर्य, धैर्य, बल, पराक्रम, चातुर्य, विविधधन ऐश्वर्य, विनय, साम्राज्य, सम्मति, सम्प्रीति, स्वदेशसुखसपादनादि गुणों में सब नरदेहधारियों से अधिक उत्तम करो तथा "चरथाय, जीवसे" सबसे अधिक आनन्द, भोग, सब देशों में अव्याहतगमन (इच्छानुकूल जाना-आना), आरोग्य, देह, शुद्ध मानसबल और विज्ञान इत्यादि के लिये हमको उत्तमता और अपनी पालनायुक्त करो, "विदा" विद्यादि उत्तमोत्तम धन "देवेषु" विद्वानों के बीच में प्राप्त करो अर्थात् विद्वानों के मध्य में भी उत्तम प्रतिष्ठायुक्त सदैव हमको रक्खो ॥ १६ ॥

मूल स्तुति

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः ।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥१७॥

ऋ० १ । ६ । १६ । १० ॥

व्याख्यान—हे त्रैकाल्याबाधेश्वर ! "अदितिर्द्यौः" आप सदैव विनाशरहित तथा स्वप्रकाशस्वरूप हो, "अदितिरन्तरिक्षम्" अविकृत (विकार को न प्राप्त) और सबके अधिष्ठाता हो "अदितिर्माता" आप प्राप्तमोक्ष जीवों को अविनश्वर (विनाशरहित) सुख देने और अत्यन्त मान करनेवाले हो "स पिता" सो अविनाशीस्वरूप हम सब लोगों के पिता (जनक) और पालक हो और "स पुत्रः" सो ईश्वर आप मुमुक्षु धर्मात्मा विद्वानों को नरकादि दुःखो से पवित्र और त्राण (रक्षक) करनेवाले हो "विश्वे देवा अदितिः" सब दिव्यगुण (विश्व का धारण, रचन, मारण, पालन आदि कार्यों को करनेवाले) आप अविनाशी परमात्मा ही है "पचजना अदितिः" पच प्राण जो जगत् के जीवनहेतु वे भी आपके रचे और आपके नाम भी है "जातमदितिः" वही एक चेतन ब्रह्म आप सदा प्रादुर्भूत है और सब कभी प्रादुर्भूत कभी अप्रादुर्भूत (विनाशभूत) भी हो जाते है "अदितिर्जनित्वम्" वे ही अविनाशीस्वरूप ईश्वर आप सब जगत् के (जनित्वम्) जन्म का हेतु है और कोई नही * ॥ १७ ॥

---

* ये सब नाम दिव आदि अन्य वस्तुओ के भी होते है परन्तु यहा ईश्वराभिप्रेत से ही अर्थ किया, सो सप्रमाण जानना चाहिये ।।

मूल प्रार्थना

ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान् ।
अर्यमा देवैः सजोषाः ॥ १८ ॥ ऋ० १ । ६ । १७ । १ ॥

व्याख्यान—हे महाराजाधिराज परमेश्वर ! आप हमको "ऋजु०" सरल (शुद्ध) कोमलत्वादिगुणविशिष्ट चक्रवर्ती राजाओ की नीति को "नयतु" कृपादृष्टि से प्राप्त करो, आप "वरुण:" सर्वोत्कृष्ट होने से वरुण हो सो हमको वरराज्य वरविद्या वरनीति देओ तथा सबके मित्र शत्रुतारहित हो, हमको भी आप मित्रगुणयुक्त न्यायाधीश कीजिये तथा आप सर्वोत्कृष्ट विद्वान् हो, हमको भी सत्यविद्या से युक्त सुनीति दे के साम्राज्याधिकारी सद्यः कीजिये तथा आप "अर्य्यमा" (यमराज) प्रियाप्रिय को छोड़के न्याय में वर्त्तमान हो, सब संसार के जीवों के पाप और पुण्यों की यथायोग्य व्यवस्था करनेवाले हो सो हमको भी आप तादृश करे जिससे "देवैः, सजोषा" आपकी कृपा से विद्वानो वा दिव्यगुणो के साथ उत्तमप्रीति-युक्त आप मे रमण और आपका सेवन करनेवाले हों, हे कृपासिन्धो भगवन् ! हम पर सहायता करो जिससे सुनीतियुक्त होके हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढ़े ॥ १८ ॥

मूल प्रार्थना

त्वं सोमासि सत्पतिस्त्वं राजोत वृत्रहा ।
त्वं भद्रो असि क्रतुः ॥ १९ ॥ ऋ० १ । ६ । १९ । ५ ॥

व्याख्यान—हे सोम राजन् सत्पते परमेश्वर ! तुम सोम, सबका सार निकालनेहारे प्राप्तस्वरूप, शांतात्मा हो तथा सत्पुरुषों का प्रतिपालन करनेवाले हो, तुम्ही सबके राजा "उत" और "वृत्रहा"

मेघ के रचक, धारक और मारक हो, भद्रस्वरूप भद्र करनेवाले और "ऋतु" सब जगत् के कर्त्ता आप ही हो ॥ १९ ॥

मूल प्रार्थना

त्वं नः सोम विश्वतो रक्षा राजन्नघायतः ।
न रिष्येत् त्वावतः सखा ॥ २० ॥ ऋ० १ । ६ । २० । ८ ॥

व्याख्यान—हे सोम राजन्नीश्वर ! तुम "अघायतः" जो कोई प्राणी हममें पापी और पाप करने की इच्छा करनेवाले हों "विश्वतः" उन सब प्राणियों से हमारी "रक्ष" रक्षा करो, जिसके आप सगे मित्र हो "न, रिष्येत्" वह कभी विनष्ट नहीं होता किन्तु हमको आपकी सहायता से तिलमात्र भी दुःख वा भय कभी नही होगा, जो आपका मित्र और जिसके आप मित्र हो उसको दुःख क्योंकर हो ॥ २० ॥

मूल प्रार्थना

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ २१ ॥ ऋ० १ । २ । ७ । २० ॥

व्याख्यान—हे विद्वानो और मुमुक्षु जीवो ! विष्णु का जो परम अत्यन्तोत्कृष्ट पद (पदनीय) सबके जानने योग्य, जिसको प्राप्त होके पूर्णानन्द मे रहते हैं फिर वहा से शीघ्र दुःख में नहीं गिरते, उस पद को "सूरयः" धर्मात्मा जितेन्द्रिय, सबके हितकारक विद्वान् लोग यथावत् अच्छे विचार से देखते है वह परमेश्वर का पद है । किस दृष्टान्त से कि जैसे आकाश में "चक्षु" नेत्र की व्याप्ति वा सूर्य का प्रकाश सब ओर से व्याप्त है वेसे ही "दिवीव, चक्षुराततम्" परब्रह्म सब जगह में परिपूर्ण एकरस भर रहा है । वही परमपदस्वरूप

परमात्मा परमपद है, इसी की प्राप्ति होने से जीव सब दुःखों से छूटता है अन्यथा जीव का कभी परमसुख नहीं मिलता। इससे सब प्रकार परमेश्वर की प्राप्ति मे यथावत् प्रयत्न करना चाहिये ।। २१ ।।

मूल प्रार्थना

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे ।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥२२॥

ऋ० १ । ३ । १८ । २ ॥

व्याख्यान—(परमेश्वरो हि सर्वजीवेभ्य आशीर्ददाति) ईश्वर सब जीवों को आशीर्वाद देता है कि, हे जीवो ! "वः" (युष्माकम्) तुम्हारे लिये आयुध अर्थात् शतघ्नी (तोप) भुशुण्डी (बंदूक) धनुष्, वाण, करवाल (तलवार) शक्ति (बरछी) आदि शस्त्र स्थिर और "वीळू" दृढ़ हो। किस प्रयोजन के लिये ? "पराणुदे" तुम्हारे शत्रुओं के पराजय के लिये जिससे तुम्हारे कोई दुष्ट शत्रु लोग कभी दुःख न दे सके "उत, प्रतिष्कभे" शत्रुओं के वेग को थांभने के लिये "युष्माकमस्तु, तविषी पनीयसी" तुम्हारी बलरूप उत्तम सेना सब ससार में प्रशसित हो जिससे तुमसे लड़ने को शत्रु का कोई संकल्प भी न हो परन्तु "मा मर्त्यस्य मायिनः" जो अन्यायकारी मनुष्य है उसको हम आशीर्वाद नही देते। दुष्ट, पापी, ईश्वरभक्ति-रहित मनुष्य का बल और राज्यैश्वर्यादि कभी मत बढ़ो, उसका पराजय ही सदा हो। हे बधुवर्गो ! आओ, अपने सब मिलके सर्व दुःखों का विनाश और विजय के लिये ईश्वर को प्रसन्न करें जो अपने को वह ईश्वर आशीर्वाद देवे जिससे अपने शत्रु कभी न बढ़ें ।। २२ ।।

मूल स्तुति

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ २३ ॥ ऋ० १ । २ । ७ । १९ ॥

व्याख्यान—हे जीवो ! "विष्णोः" व्यापकेश्वर के किये दिव्य जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि कर्मों को तुम देखो । (प्रश्न) किस हेतु से हम लोग जानें कि व्यापक विष्णु के कर्म्म हैं ? (उत्तर) "यतो व्रतानि पस्पशे" जिससे हम लोग ब्रह्मचर्यादि व्रत तथा सत्य-भाषणादि व्रत और ईश्वर के नियमों का अनुष्ठान करने को जीव सुशरीरधारी होके समर्थ हुए हैं, यह काम उसी के सामर्थ्य से है । क्योंकि "इन्द्रस्य, युज्यः, सखा" इन्द्रियों के साथ वर्त्तमान कर्मों का कर्त्ता, भोक्ता जो जीव इसका वही एक योग्य मित्र है, अन्य कोई नही क्योकि ईश्वर जीव का अन्तर्यामी है, उससे परे जीव का हितकारी कोई और नहीं हो सकता, इससे परमात्मा से सदा मित्रता रखनी चाहिये ।। २३ ।।

मूल प्रार्थना

पराणुदस्व मघवन्नमित्रान्त्सुवेदा नो वसू कृधि ।
अस्माकं बोध्यविता महाधने भवा वृधः सखीनाम् ॥ २४ ॥
ऋ० ५ । ३ । २१ । २५ ॥

व्याख्यान—हे मघवन् परमैश्वर्यवन् इन्द्र परमात्मन् ! "अमित्रान्" हमारे सब शत्रुओं को "पराणुदस्व" परास्त कर दे । हे दातः ! "सुवेदा, नो, वसू, कृधि" । "अस्माकं, बोध्यविता" हमारे लिये सब पृथिवी के धन सुलभ कर । "महाधने" युद्ध में हमारे और हमारे मित्र तथा सेनादि के "अविता" रक्षक "वृधः" वर्द्धक "भव" आप

ही हो तथा "बोधि" हमको अपने ही जानो। हे भगवन्! जब आप हमारे रक्षक योद्धा होंगे तभी हमारा सर्वत्र विजय होगा, इसमे सन्देह नहीं ॥ २४ ॥

मूल प्रार्थना

शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शं नः पुरन्धिः शमु सन्तु रायः।
शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु ॥२५॥

ऋ० ५। ३। २८। २॥

व्याख्यान—हे ईश्वर! "भगः" आप और आपका दिया हुआ ऐश्वर्य "शं नः" हमारे लिए सुखकारक हो, और "शमु, नः, शंसो अस्तु" आपकी कृपा से हमारी सुखकारक प्रशंसा सदैव हो। "पुरन्धिः, शमु, सन्तु, रायः" संसार के धारण करनेवाले आप तथा वायु प्राण और सब धन आनन्ददायक हों। "शन्न', सत्यस्य [सुयमस्य शंसः]" सत्य यथार्थ धर्म, सुसंयम और जितेन्द्रियादिलक्षणयुक्त जो प्रशंसा (पुण्यस्तुति) सब संसार में प्रसिद्ध है वह परमानन्द और शांतियुक्त हमारे लिये हो। "शं नो, अर्यमा" न्यायकारी आप "पुरुजातः" अनन्तसामर्थ्ययुक्त हमारे कल्याणकारक होओ ॥ २५ ॥

मूल स्तुति

त्वमसि प्रशस्यो विदथेषु सहन्त्य।
अग्ने रथीरध्वराणाम् ॥ २६ ॥ ऋ० ५। ८। ३५। २॥

व्याख्यान—हे "अग्ने" सर्वज्ञ! तू ही सर्वत्र "प्रशस्यः" स्तुति करने के योग्य है, अन्य कोई नहीं। "विदथेषु" यज्ञ और युद्धों में आपही स्तोतव्य हो। जो तुम्हारी स्तुति को छोड़ के अन्य जड़ादि

की स्तुति करता है उसके यज्ञ तथा युद्धों में विजय कभी सिद्ध नही होता है। "सहन्त्य" शत्रुओं के समूहों के आप ही घातक हो। "रथी:" अध्वरो अर्थात् यज्ञ और युद्धों में आप ही रथी हो। हमारे शत्रुओं के योद्धाओं को जीतनेवाले हो इस कारण से हमारा पराजय कभी नही हो सकता ॥ २६ ॥

मूल प्रार्थना

तन्न इन्द्रो वरुणो मित्रो अग्निराप ओषधीर्वनिनो जुषन्त।
शर्मन्त्स्याम मरुतामुपस्थे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥२७॥

ऋ० ५। ३। २७। २५ ॥

व्याख्यान—हे भगवन् ! "तन्न इन्द्र" सूर्य "वरुण:" चन्द्रमा, "मित्र:" वायु "अग्नि:" अग्नि "आप:" जल "ओषधी:" वृक्षादि वनस्थ सब पदार्थ आपकी आज्ञा से सुखरूप होकर हमारा सेवन करें। हे रक्षक ! "मरुतामुपस्थे" प्राणादि पवनों के गोद में बैठे हुए हम आपकी कृपा से "शर्मन्त्स्याम" सुखयुक्त सदा रहैं "स्वस्तिभि:" सब प्रकार के रक्षणों से "यूयं, पात" (आदरार्थं बहुवचनम्) आप हमारी रक्षा करो, किसी प्रकार से हमारी हानि न हो ॥ २७ ॥

मूल स्तुति

ऋषिर्हि पूर्वजा अस्येक ईशान ओजसा।
इन्द्र चोष्कूयसे वसु ॥ २८ ॥ ऋ० ५। ८। १७। ४१ ॥

व्याख्यान—हे ईश्वर ! "ऋषि:" सर्वज्ञ "पूर्वजा:" और सबके पूर्वजों के एक अद्वितीय "ईशान:" ईशनकर्त्ता अर्थात् ईश्वरता करनेहारे ईश्वर तथा सबसे बड़े प्रलयोत्तरकाल में आप ही रहनेवाले

"ओजसा" अनन्तपराक्रम से युक्त हो, हे इन्द्र महाराजाधिराज! "चोष्कूयसे वसु" सब धन के दाता शीघ्र कृपा का प्रवाह अपने सेवकों पर कर रहे हो, आप अत्यन्त आर्द्र स्वभाव हो ।। २८ ।।

मूल प्रार्थना

नेह भद्रं रक्षस्विने नावयै नोपया उत ।

गवे च भद्रं धेनवे वीराय च श्रवस्यतेऽनेहसो व ऊतयः ।

सु ऊतयो व ऊतयः ॥२९॥ ऋ० ६ । ४ । ९ । १२ ॥

व्याख्यान—हे भगवन् ! "रक्षस्विने भद्रं, नेह" पापी हिंसक दुष्टात्मा को इस संसार में सुख मत देना । "नावयै" धर्म से विपरीत चलनेवाले को सुख कभी मत हो । तथा "नोपया उत" अधर्मी के समीप रहनेवाले उसके सहायक को भी सुख नहीं हो । ऐसी प्रार्थना आपसे हमारी है कि दुष्ट को सुख कभी न होना चाहिये नहीं तो कोई जन धर्म में रुचि नहीं करेगा किन्तु इस संसार में धर्मात्माओं को ही सुख सदा दीजिये । तथा हमारी शमदमादियुक्त इन्द्रियां, दुग्ध देनेवाली गौ आदि, वीरपुत्र और शूरवीरभृत्य "श्रवस्यते" विद्या, विज्ञान और अन्नाद्यैश्वर्ययुक्त हमारे देश के राजा और धनाढ्यजन तथा इनके लिये "अनेहसः" निष्पाप निरुपद्रव स्थिर दृढ़ सुख हो "व ऊतयो व ऊतयः" (वः युष्माकं, बहुवचनमादरार्थम्) हे सर्वरक्षकेश्वर ! आप सब रक्षण अर्थात् पूर्वोक्त सब धर्मात्माओं की रक्षा करनेहारे हैं । जिस पर आप रक्षक हो उनको सदैव भद्र कल्याण (परमसुख) प्राप्त होता है, अन्य को नहीं ।। २९ ।।

मूल स्तुति

वसुर्वसुपतिर्हि कमस्यग्ने विभावसुः ।
स्याम ते सुमतावपि ॥ ३० ॥ ऋ० ६ । ३ । ४० । २४ ॥

व्याख्यान—हे परमात्मन् ! आप वसु अर्थात् सबको अपने में वसानेवाले और सब में आप वसनेवाले हो तथा "वसुपतिः" पृथिव्यादि वास हेतुभूतों के पति हो। "कमसि" हे अग्ने विज्ञानानन्द स्वप्रकाशस्वरूप ! आप ही सबके सुखकारक और सुखस्वरूप हो तथा "विभावसुः" सत्यस्वप्रकाशैक धनमय हो। हे भगवन् ! ऐसे जो आप, उन "ते" आपकी "सुमतौ" अत्यन्तोत्कृष्ट ज्ञान और परस्पर प्रीति में हम लोग स्थिर हों ॥ ३० ॥

मूल प्रार्थना

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः ।
इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥ ३१ ॥

ऋ० १ । ७ । ६ । १ ॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो ! जो हमारा तथा सब जगत् का राजा सब भुवनों का स्वामी "कम्" सबका सुखदाता और "अभिश्रीः" सबका निधि (शोभाकारक) है। "वैश्वानरो, यतते, सूर्येण" संसारस्थ सब नरों का नेता (नायक) और सूर्य के साथ वही प्रकाशक है अर्थात् सब प्रकाशक पदार्थ उसके रचे हैं। "इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे" इसी ईश्वर के सामर्थ्य से ही यह संसार उत्पन्न हुआ है अर्थात् उसने रचा है। "वैश्वानरस्य सुमतौ, स्याम" उस वैश्वानर परमेश्वर की सुमतौ अर्थात् सुशोभन (उत्कृष्ट) ज्ञान में

हम निश्चित सुखस्वरूप और विज्ञानवाले हों। हे महाराजाधिराजेश्वर! आप इस हमारी आशा को कृपा से पूरी करो ॥ ३१ ॥

मूल स्तुति

न यस्य॒ द्यावा॑ दे॒वता॒ न मर्त्ता॒ आप॑श्च॒ न शव॑सो॒ अन्त॑मा॒पुः ।
स प्ररिक्वा॒ त्वक्ष॑सा॒ क्ष्मो दि॒वश्च॑ म॒रुत्वा॑न्नो भव॒त्विन्द्र॑ ऊ॒ती ॥३२॥

ऋ० १ । ७ । १० । १५ ॥

व्याख्यान—हे अनन्तबल! "न यस्य" जिस परमात्मा का और उसके बलादि सामर्थ्य का "देवा:" इन्द्रिय "देवता:" विद्वान् सूर्यादि बुद्ध्यादि "न, मर्त्ता:" साधारण मनुष्य "आपश्च न" आप, प्राण, वायु, समुद्र इत्यादि सब अन्त (पार) कभी नहीं पा सकते किन्तु "प्ररिक्वा" प्रकृष्टता से इनमें व्यापक होके अतिरिक्त (इनसे विलक्षण) भिन्न ही परिपूर्ण हो रहा है सो "मरुत्वान्" अत्यन्त बलवान् इन्द्र परमात्मा "त्वक्षसा" शत्रुओं के बल का छेदक बल से "क्ष्मः" पृथिवी को "दिवश्च" स्वर्ग को धारण करता है सो "इन्द्रः" परमात्मा "ऊती" हमारी रक्षा के लिये "भवतु" तत्पर हो ॥ ३२ ॥

मूल प्रार्थना

जा॒तवे॑दसे सुनवाम॒ सोम॑मरातीय॒तो नि द॑हाति॒ वेदः॑ ।
स नः॑ पर्ष॒दति॑ दु॒र्गाणि॒ विश्वा॑ ना॒वेव॒ सिन्धुं॑ दुरि॒तात्य॒ग्निः ॥३३॥

ऋ० १ । ७ । ७ । १ ॥

व्याख्यान—हे "जातवेदः" परब्रह्मन्! आप जातवेद हो, उत्पन्नमात्र सब जगत् को जाननेवाले हो, सर्वत्र प्राप्त हो। जो विद्वानों से ज्ञात सबमें विद्यमान (जात अर्थात् प्रादुर्भूत अनन्त धनवान् वा

अनन्त ज्ञानवान् हो इससे आपका नाम जातवेद है) उन आपके लिये "वय, सोम, सुनवाम" जितने सोम प्रिय-गुणविशिष्टादि हमारे पदार्थ हैं, वे सब अर्पित है, सो आप हे कृपालो ! "अरातीयतः" दुष्ट शत्रु जो हम धर्मात्माओं का विरोधी उसके "वेदः" धनैश्वर्यादि का "नि दहाति" नित्य दहन करो जिससे वह दुष्टता को छोड के श्रेष्ठता को स्वीकार करे तथा "नः" हमको "दुर्गाणि, विश्वा" सम्पूर्ण दुस्सह दुःखों से "पर्षदति" पार करके आप नित्य सुख को प्राप्त करो । "नावेव, सिन्धुम्" जैसे अति कठिन नदी वा समुद्र से पार होने के लिये नौका होती है "दुरितात्यग्निः" वैसे ही हमको सब पापजनित अत्यन्त पीडाओ से पृथक् (भिन्न) करके ससार मे और मुक्ति में ही परमसुख को शीघ्र प्राप्त करो ।। ३३ ।।

मूल स्तुति

स वज्रभृद्दस्युहा भीम उग्रः सहस्रचेताः शतनीथ ऋभ्वा ।
चम्रीषो न शवसा पाञ्चजन्यो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ।।३४।।

ऋ० १ । ७ । १० । १२ ।।

व्याख्यान—हे दुष्टनाशक परमात्मन् ! आप "वज्रभृत्" अच्छेद्य (दुष्टों के छेदक) सामर्थ्य से सर्वशिष्ट हितकारक दुष्टविनाशक जो न्याय उसको धारण कर रहे हो "प्राणो वा वज्रः" इत्यादि शतपथादि का प्रमाण है । अतएव "दस्युहा" दुष्ट पापी लोगों का हनन करनेवाले हो । "भीमः" आपकी न्याय आज्ञा को छोड़नेवालो पर भयङ्कर भय देनेवाले हो । "सहस्रचेताः" सहस्रों विज्ञानादि गुणवाले आप ही हो । "शतनोथः" सैकड़ो असंख्यात पदार्थों की प्राप्ति करानेवाले हो । "ऋभ्वा" अत्यन्त विज्ञानादि प्रकाशवाले हो और सबके प्रकाशक हो तथा महान् वा महाबलवाले हो । "न,

चम्रीषः" किसी की चमू (सेना) में वश को प्राप्त नहीं होते हो। "शवसा, पाञ्चजन्यः" स्वबल से आप पाञ्चजन्य (पांच प्राणों के) जनक हो। "मरुत्वान्" सब प्रकार के वायुओं के आधार तथा चालक हो। सो आप "इन्द्रः" हमारी रक्षा के लिये प्रवृत्त हों जिससे हमारा कोई काम न बिगड़े ।। ३४ ।।

मूल प्रार्थना

सेमं नः काममा पृण गोभिरश्वैः शतक्रतो ।
स्तवाम त्वा स्वाध्यः ॥ ३५ ॥

ऋ० १ । १ । ३१ । ९ ॥

व्याख्यान—हे "शतक्रतो" अनन्तक्रियेश्वर ! आप असंख्यात विज्ञानादि यज्ञों से प्राप्त हो, तथा अनन्तक्रियायुक्त हो। सो आप "गोभिरश्वैः" गाय उत्तम इन्द्रिय श्रेष्ठ पशु सर्वोत्तम अश्वविद्या (विज्ञानादियुक्त) तथा अश्व अर्थात् श्रेष्ठ घोड़ादि पशुओं और चक्रवर्ती राज्यैश्वर्य्य से "सेमं, नः, काममापृण" हमारे काम को परिपूर्ण करो। फिर हम भी "स्तवाम, त्वा, स्वाध्यः" सुबुद्धियुक्त हो के उत्तम प्रकार से आपका स्तवन (स्तुति) करें। हमको दृढ़ निश्चय है कि आपके विना दूसरा कोई किसी का काम पूर्ण नहीं कर सकता। आपको छोड़ के दूसरे का ध्यान वा याचना जो करते हैं, उनके सब काम नष्ट हो जाते हैं ।। ३५ ।।

मूल स्तुति

सोम गीर्भिष्ट्वा वयं वर्द्धयामो वचोविदः ।
सुमृळीको न आ विश ॥ ३६ ॥ ऋ० १ । ६ । २१ । ११ ॥

व्याख्यान—हे "सोम" सर्वजगदुत्पादकेश्वर! आपको "वचोविदः" शास्त्रवित् हम लोग स्तुतिसमूह से "वर्द्धयाम." सर्वोपरि विराजमान मानते हैं। "सुमृडीकः, नः आविश" क्योंकि हमको सुन्दर सुख देनेवाले आप ही हो सो कृपा करके हमको आप आवेश करो जिससे हम लोग अविद्यान्धकार से छूट और विद्यासूर्य को प्राप्त होके आनन्दित हों ॥ ३६ ॥

मूल प्रार्थना

सोमं रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा।
मर्य्य इव स्व ओक्ये ॥ ३७ ॥ ऋ० १। ६। २१। १३॥

व्याख्यान—हे "सोम" सोम्य सौख्यप्रदेश्वर! आप कृपा करके "रारन्धि, नः हृदि" हमारे हृदय में यथावत् रमण करो। दृष्टान्त—जैसे सूर्य्य की किरण विद्वानो का मन और गाय, पशु अपने अपने विषय और घासादि में रमण करते हैं * वा जैसे "मर्यः, इव, स्वे, ओक्ये" मनुष्य अपने घर मे रमण करता है, वैसे ही आप सदा स्वप्रकाशयुक्त हमारे हृदय (आत्मा) में रमण कीजिये, जिससे हमको यथार्थ सर्वज्ञान और आनन्द हो ॥ ३७ ॥

मूल स्तुति

गयस्फानो अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्द्धनः।
सुमित्रः सोम नो भव ॥ ३८ ॥ ऋ० १। ६। २१। १२॥

व्याख्यान—हे परमात्मभक्त जीवो! अपना इष्ट जो परमेश्वर, सो "गयस्फानः" प्रजा, धन, जनपद और सुराज्य का बढ़ानेवाला है,

* दृष्टान्त का एक देश रमणमात्र लेना ॥

तथा "अमीवहा" शरीर, इन्द्रियजन्य और मानस रोगों का हनन (विनाश) करनेवाला है। "वसुवित्" सब पृथिव्यादि वसुओं का जाननेवाला है अर्थात् सर्वज्ञ और विद्यादि धन का दाता है, "पुष्टिवर्धनः" हमारे शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा की पुष्टि का बढ़ानेवाला है। "सुमित्रः, सोम, नः, भव" सुन्दर यथावत् सबका परममित्र वही है, सो अपन उससे यह मांगे कि हे सोम सर्वजगदुत्पादक! आप ही कृपा करके हमारे सुमित्र हों और हम भी सब जीवों के मित्र हों तथा अत्यन्त मित्रता आपसे भी रक्खें ॥ ३८ ॥

मूल प्रार्थना

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि ।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ३९ ॥ ऋ० १ । ७ । ५ । ६ ॥

व्याख्यान—हे अग्ने परमात्मन्! "त्वं, हि" तू ही "विश्वतः परिभूरसि" सब जगत् सब ठिकानों में व्याप्त है, अत एव आप विश्वतोमुख हो। हे सर्वतोमुख अग्ने! आप स्वशक्ति से सब जीवों के हृदय में सत्योपदेश नित्य ही कर रहे हो, वही आपका मुख है। हे कृपालो! "अप, नः, शोशुचदघम्" आपकी इच्छा से हमारा पाप सब नष्ट हो जाय जिससे हम लोग निष्पाप होके आपकी भक्ति और आज्ञा पालन में नित्य तत्पर रहें ॥ ३९ ॥

मूल स्तुति

तमीळत प्रथमं यज्ञसाधं विश आरीराहुतमृञ्जसानम् ।
ऊर्जः पुत्रं भरतं सृप्रदानुं देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम् ॥ ४० ॥
ऋ० १ । ७ । ३ । ३ ॥

व्याख्यान —हे मनुष्यो ! "तमीळत" उस अग्नि की स्तुति करो, कि जो "प्रथमम्" सब कार्यो से पहिले वर्त्तमान और सबका आदि कारण है, तथा "यज्ञसाधम्" सब संसार और विज्ञानादि यज्ञ का साधक (सिद्ध करनेवाला) सबका जनक है । हे "विशः" मनुष्यो ! उसी को स्वामी मानकर "आरी." प्राप्त होओ, जिसको अपने दीनता मे पुकारते, विज्ञानादि से विद्वान् लोग सिद्ध करते और जानते है । "ऊर्ज., पुत्रं भरतम्" पृथिव्यादि जगत्‌रूप अन्न का पुत्र अर्थात् पालन करनेवाला तथा 'भरत' अर्थात् उसी अन्न का पोषण और धारण करनेवाला है । "सृप्रदानुम्" सब जगत् को चलने की शक्ति देनेवाला और ज्ञान का दाता है । उसी को "देवा अग्नि धारयन् द्रविणोदाम्" देव (विद्वान् लोग) अग्नि कहते और धारण करते है । वही सब जगत् को द्रविण अर्थात् निर्वाह के सब अन्न-जलादि पदार्थ और विद्यादि पदार्थो का देनेवाला है । उस अग्नि परमात्मा को छोड़ के अन्य किसी की भक्ति वा याचना कभी किसी को न करनी चाहिये ॥ ४० ॥

मूल प्रार्थना

तमूतयो रणयञ्छूरसातौ तं क्षेमस्य क्षितयः कृण्वत त्राम् ।
स विश्वस्य करुणस्येश एको मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ॥४१॥

ऋ० १ । ७ । ९ । ७ ॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो ! "तमूतयः०" उसी इन्द्र परमात्मा की प्रार्थना तथा शरणागति से अपने को "ऊतय." अनन्त रक्षण तथा बलादि गुण प्राप्त होगे । "शूरसातौ" युद्ध मे अपने को यथावत् "रणयन्" रमण और रणभूमि में शूरवीरो के गुण परस्पर प्रीत्यादि प्राप्त करावेगा "तं क्षेमस्य, क्षितयः" हे शूरवीर मनुष्यो ! उसी को क्षेम कुशलता का "त्राम्" रक्षक "कृण्वत" करो जिससे अपना

पराजय कभी न हो। क्योंकि, "सः, विश्वस्य" सो करुणामय, सब जगत् पर करुणा करनेवाला "एकः" एक ही है अन्य कोई नहीं, सो परमात्मा "मरुत्वान्" प्राण, वायु, बल, सेनायुक्त "ऊती" (ऊतये) सम्यक् हम लोगों पर कृपा से रक्षक हो, जिसकी रक्षा से हम लोग कभी पराजय को न प्राप्त हों ।। ४१ ।।

मूल स्तुति

स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम् ।
विवस्वता चक्षसा द्यामपश्च देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम् ।।४२।।

ऋ० १ । ७ । ३ । २ ।।

व्याख्यान—हे मनुष्यो ! सो ही "पूर्वया, निविदा" आदि सनातन, सत्यता आदि गुणयुक्त परमात्मा था, अन्य कोई [कार्य] नहीं था। तब सृष्टि के आदि में स्वप्रकाशस्वरूप एक ईश्वर ने प्रजा की उत्पत्ति की। ईक्षणता (विचार) [और] सर्वज्ञतादिसामर्थ्य से सत्य-विद्यायुक्त वेदों की तथा "मनूनां" मननशील मनुष्यों की तथा पशु-वृक्षादि "प्रजाः" प्रजा को "अजनयत् उत्पन्न किया—परस्पर मनुष्य और पशु व्यवहार को चलने के लिये। परन्तु मननशील मनुष्यों को अवश्य स्तुति करने योग्य वही है। "विवस्वता चक्षसा" सूर्यादि तेजस्वी सब पदार्थों का प्रकाशनेवाला, बल से, स्वर्ग (सुखविशेष) सब लोक "अपः" अन्तरिक्ष में पृथिव्यादि मध्यम लोक और निकृष्ट दुःखविशेष नरक और सब दृश्यमान तारे आदि लोक-लोकान्तर रचे हैं। जो ऐसा सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर है उसी "द्रविणोदाम्" विज्ञानादि धन देनेवाले को "देवाः" [विद्वान् लोग] अग्नि जानते हैं। हम लोग उसी को भजें ।। ४२ ।।

मूल प्रार्थना

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरे भरे ।
अस्मभ्यमिन्द्र वरिवः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन्वृष्ण्या रुज ॥४३॥

ऋ० १ । ७ । १४ । ४ ॥

व्याख्यान—हे इन्द्र परमात्मन् ! "त्वया युजा वयं, जयेम" आपके साथ वर्त्तमान आपकी सहायता से हम लोग दुष्ट शत्रुजन को जीतें । कैसा वह शत्रु ? कि "आवृतम्" हमारे बल से घेरा हुआ । हे महाराजाधिराजेश्वर ! "भरे भरे अस्माकमंशमुदवा" युद्ध युद्ध मे हमारे अंश (बल) सेना का "उदव" उत्तम रीति से कृपा करके रक्षण करो, जिससे किसी युद्ध मे क्षीण होके हम पराजय को न प्राप्त हों । जिनको आपकी सहायता है उनका सर्वत्र विजय होता ही है । हे "इन्द्रमघवन्" महाधनेश्वर ! "शत्रूणां, वृष्ण्या" हमारे शत्रुओं के वीर्य्य पराक्रमादि को "प्ररुज" प्रभग्न रुग्ण करके नष्ट कर दे । "अस्मभ्यं, वरिवः, सुगं, कृधि" हमारे लिये चक्रवर्ती राज्य और साम्राज्य धनको "सुगम्" सुख से प्राप्त कर अर्थात् आपकी करुणा से हमारा राज्य और धन सदा वृद्धि को ही प्राप्त हो ॥ ४३ ॥

मूल स्तुति

यो विश्वस्य जगतः प्राणतस्पतिर्यो ब्रह्मणे प्रथमो गा अविन्दत् ।
इन्द्रो यो दस्यूँरधराँ अवातिरन् मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ॥४४॥

ऋ० १ । ७ । १२ । ५ ॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो ! जो सब जगत् (स्थावर) जड़ अप्राणी का और "प्राणतः" चेतनावाले जगत् का "पतिः" अधिष्ठाता और

पालक है, तथा जो सब जगत् के प्रथम सदा से है और "ब्रह्मणे, गाः, अविन्दत्" जिसने यही नियम किया है कि ब्रह्म अर्थात् विद्वान् के ही लिये पृथिवी का लाभ और उसका राज्य है। और जो "इन्द्रः" परमैश्वर्यवान् परमात्मा डाकुओ को "अधरान्" नीचे गिराता है तथा उनको मार ही डालता है, "मरुत्वन्त सख्याय, हवामहे" आओ मित्रो भाई लोगो! अपने सब सप्रीति से मिलके मरुत्वान् अर्थात् परमानन्द बलवाले इन्द्र परमात्मा को सखा होने के लिये अत्यन्त प्रार्थना से गद्‌गद् हो के बुलावे। वह शीघ्र ही कृपा करके अपने से सखित्व (परम मित्रता) करेगा। इसमे कुछ सन्देह नहीं ॥ ४४ ॥

मूल प्रार्थना

मृळा नो रुद्रोत नो मयस्कृधि क्षयद्वीराय नमसा विधेम ते।
यच्छं च योश्च मनुरायेजे पिता तदश्याम तव रुद्र प्रणीतिषु ॥४५॥

ऋ० १। ८। ५। २॥

व्याख्यान--हे दुष्टो को रुलानेहारे रुद्रेश्वर! हमको "मृड" सुखी कर, तथा "मयस्कृधि" हमको मय अर्थात् अत्यन्त सुख का सम्पादक कर। "क्षयद्वीराय, नमसा, विधेम, ते" शत्रुओं के वीरों का क्षय करनेवाले अत्यन्त नमस्कारादि से आपकी परिचर्या करनेवाले हम लोगों को रक्षण यथावत् कर "यच्छम्" हे रुद्र! आप हमारे पिता (जनक) और पालक हो, हमारी सब प्रजा को सुखी कर, "योश्च" प्रजा के रोगों का भी नाश कर। जैसे "मनुः" मान्यकारक पिता "आयेजे" स्वप्रजा को सगत और अनेकविध लाडन करता है वैसे आप हमारा पालन करो। हे रुद्र भगवन्! "तव, प्रणीतिषु" आपकी आज्ञा का 'प्रणय' अर्थात् उत्तम न्याययुक्त

नीतियों मे प्रवृत्त होके "तदश्याम" वीरों के चक्रवर्ती राज्य को आपके अनुग्रह से प्राप्त हों ।। ४५ ।।

मूल स्तुति

देवो न यः पृथिवीं विश्वधाया उपक्षेति हितमित्रो न राजा ।
पुरःसदः शर्मसदो न वीरा अनवद्या पतिजुष्टेव नारी ।।४६।।

ऋ० १ । ५ । १९ । ३ ।।

व्याख्यान—हे प्रियबन्धु विद्वानो ! "देवो, न" ईश्वर सब जगत् के बाहर और भीतर सूर्य के समान प्रकाश कर रहा है, "यः, पृथिवीम्" जो पृथिव्यादि जगत् को रचके धारण कर रहा है और "विश्वधायाः, उपक्षेति" विश्वधारक शक्ति का भी निवास देने और धारण करनेवाला है, तथा जो सब जगत् का परम मित्र अर्थात् जैसे "प्रिय-मित्रो, न, राजा" प्रियमित्रवान् राजा अपनी प्रजा का यथावत् पालन करता है, वैसे ही हम लोगों का पालनकर्त्ता वही एक है, और कोई भी नहीं । "पुरः सदः, शर्मसदः, न, वीराः" जो जन ईश्वर के पुरःसद हैं, (ईश्वराभिमुख ही हैं) वे ही 'शर्मसदः' अर्थात् सुख में सदा स्थिर रहते हैं । वा जैसे "न वीराः" पुत्रलोग अपने पिता के घर मे आनन्दपूर्वक निवास करते हैं, वैसे ही जो परमात्मा के भक्त हैं वे सदा सुखी रहते हैं, परन्तु जो अनन्यचित्त होके निराकार सर्वत्र व्याप्त ईश्वर की सत्य श्रद्धा से भक्ति करते हैं । जैसे कि "अनवद्या, पतिजुष्टेव, नारी" अत्यन्तोत्तमगुणयुक्त पति की सेवा में तत्पर पतिव्रता नारी (स्त्री) रात दिन, तन, मन, धन और अतिप्रेम से अनुकूल ही रहती है, वैसे प्रेम प्रीतियुक्त होके आओ भाई लोगो !

ईश्वर की भक्ति करें और अपने सब मिलके परमात्मा से परमसुख लाभ उठावे ।। ४६ ।।

मूल प्रार्थना

सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतो द्यावा च यत्र ततनन्नहानि च।
विश्वमन्यन्नि विशते यदेजति विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्यः॥४७॥

ऋ० ७ । ८ । १२ । २ ॥

व्याख्यान—हे सर्वाभिरक्षकेश्वर ! "सा मा सत्योक्तिः" आपकी सत्य आज्ञा जिसका हमने अनुष्ठान किया वह "विश्वतः, परि पातु नः" हमको सब ससार से सर्वथा पालन और सब दुष्ट कामों से सदा पृथक् रक्खे कि कभी हमको अधर्म करने की इच्छा भी न हो "द्यावा, च" और दिव्य सुख से सदा युक्त करके यथावत् हमारी रक्षा करे । "यत्र" जिस दिव्य सृष्टि में "अहानि" सूर्यादिकों को दिवस आदि के होने के निमित्त "ततनन्" आपने ही विस्तारे हैं, वहां भी हमारा सब उपद्रवों से रक्षण करो । "विश्वमन्य०" आपसे अन्य (भिन्न) विश्व अर्थात् सब जगत् जिस समय आपके सामर्थ्य से (प्रलय में) "नि विशते" प्रवेश करता है (कार्य सब कारणात्मक होता है), उस समय मे भी आप हमारी रक्षा करो । "यदेजति" जिस समय यह जगत् आपके सामर्थ्य से चलित हो के उत्पन्न होता है, उस समय भी सब पीड़ाओं से आप हमारी रक्षा करें । "विश्वाहापो, विश्वाहा" जो जो विश्व का हन्ता (दुःख देनेवाला) उसको आप नष्ट कर देओ, क्योंकि आपके सामर्थ्य से सब जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है, आपके सामने कोई राक्षस (दुष्टजन) क्या कर सकता है ? क्योंकि आप सब जगत् में उदित

(प्रकाशमान) हो रहे हो। (सूर्य्यवत्) हमारे हृदय में कृपा करके प्रकाशित होओ, जिससे हमारी अविद्यान्धकारता सब नष्ट हो ॥ ४७ ॥

मूल स्तुति

देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे ।
शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥४८॥

ऋ० १ । ६ । ३२ । १३ ॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो ! वह परमात्मा कैसा है ? कि हम लोग उसकी स्तुति करें। हे अग्ने परमेश्वर ! आप "देवः, देवानामसि" देवों (परमविद्वानों) के भी देव (परमविद्वान्) हो, तथा उनको परमानन्द देनेवाले हो, तथा "अद्भुतः" अत्यन्त आश्चर्यरूप मित्र सर्वसुखकारक सबके सखा हो, "वसु०" पृथिव्यादि वसुओं के भी वास करानेवाले हो, तथा "अध्वरे" ज्ञानादि यज्ञ में "चारुः" अत्यन्त शोभायमान और शोभा के देनेवाले हो। हे परमात्मन् ! "सप्रथस्तमे सख्ये, शर्मणि तव" आपके अतिविस्तीर्ण, आनन्दस्वरूप सखाओं के कर्म में हम लोग स्थिर हों, जिससे हमको कभी दुःख न प्राप्त हो और आपके अनुग्रह से हम लोग परस्पर अप्रीतियुक्त कभी न हों ॥ ४८ ॥

मूल प्रार्थना

मा नो वधीरिन्द्र मा परा दा मा नः प्रिया भोजनानि प्र मोषीः ।
आण्डा मा नो मघवञ्छक्र निर्भेन्मा नः पात्रा भेत्सहजानुषाणि ॥४९॥

ऋ० १ । ७ । १९ । ८ ॥

व्याख्यान—हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्तेश्वर ! "मा नो, वधीः" हमारा वध मत कर अर्थात् अपने से अलग हमको मत गिरावो। "मा परा दाः" हमसे अलग आप कभी मत हो "मा नः प्रिया०" हमारे प्रिय भोगों को मत चोर और मत चोरवावो, "आण्डा मा०" हमारे गर्भों का विदारण मत कर। हे "मघवन्" सर्वशक्तिमन "शक्र" समर्थ! हमारे पुत्रों का विदारण मत कर। "मा नः, पात्रा" हमारे भोजनाद्यर्थ सुवर्णादि पात्रों को हमसे अलग मत कर। "सहजानुषाणि" जो जो हमारे सहज अनुषक्त, स्वभाव से अनुकूल मित्र हैं, उनको आप नष्ट मत करो अर्थात् कृपा करके पूर्वोक्त सब पदार्थों की यथावत रक्षा करो ॥ ४९ ॥

मूल प्रार्थना

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः॥५०॥

ऋ० १। ८। ६। ७॥

मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥५१॥

ऋ० १। ८। ६। ८॥

व्याख्यान—हे "रुद्र" दुष्टविनाशकेश्वर ! आप हम पर कृपा करो "मा, नो, व०" हमारे ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध पिता इनको आप नष्ट मत करो। तथा "मा नो अर्भकम्" छोटे बालक और "उक्षन्तम्" वीर्यसेचन समर्थ जवान तथा जो गर्भ में वीर्य को सेचन किया है उसको मत विनष्ट करो तथा हमारे पिता, माता और प्रिय तनुओं (शरीरों) का "मा, रीरिष." हिंसन मत करो।

"मा, नः, तोके" कनिष्ठ, मध्यम और ज्येष्ठपुत्र, "आयौ" उमर "गोषु" गाय आदि पशु "अश्वेषु" घोडा आदि उत्तम यान हमारी सेना के शूरों में "हविष्मन्तः" यज्ञ के करनेवाले इनमें "भामितः" क्रोधित और "मा रीरिषः" रोषयुक्त होके कभी प्रवृत्त मत हो, हम लोग आपको "सदमित्त्वा, हवामहे" सर्वदैव आह्वान करते हैं, हे भगवन् रुद्र परमात्मन्! आपसे यही प्रार्थना है कि हमारी और हमारे पुत्र, धनैश्वर्यादि की रक्षा करो ॥ ५० ॥ ५१ ॥

मूल प्रार्थना

**उद्गातेव शकुने साम गायसि ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि।
वृषेव वाजी शिशुमतीरपीत्या सर्वतो नः शकुने भद्रमा वद
विश्वतो नः शकुने पुण्यमा वद ॥ ५२ ॥** ऋ० २। ८। १२। २॥

**आवदँस्त्वं शकुने भद्रमा वद तूष्णीमासीनः सुमतिं चिकिद्धि नः।
यदुत्पतन् वदसि कर्करिर्यथा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ ५३ ॥**
ऋ० २। ८। १२। ३॥

व्याख्यान—हे "शकुने" सर्वशक्तिमन्नीश्वर! आप सामगान को गाते ही हो। वैसे ही हमारे हृदय में सब विद्या का प्रकाशित गान करो। जैसे यज्ञ में महापंडित सामगान करता है वैसे आप भी हम लोगों के बीच में सामादि विद्या का प्रकाश कीजिये। "ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु" आप कृपा से सवन (पदार्थ विद्याओं) की "शंससि" प्रशंसा करते हो वैसे हमको भी यथावत् प्रशंसित करो। जैसे "ब्रह्मपुत्र इव" वेदों का वेत्ता विज्ञान से सब पदार्थों की प्रशंसा करता है वैसे आप

भी हम पर कृपा कीजिये। आप "वृषेव वाजी" सर्वशक्ति का सेवन करने और अन्नादि पदार्थों के देनेवाले तथा महा बलवान् और वेगवान् होने से वाजी हो। जैसे कि वृषभ के समान आप उत्तम गुण और उत्तम पदार्थों की वृष्टि करनेवाले हो वैसे हम पर उनकी वृष्टि करो। "शिशुमतिः" हम लोग आपकी कृपा से उत्तम शिशु (सन्तानादि) को "अपीत्य" प्राप्त होके आपको ही भजें। "आसर्वतो नः शकुने" हे शकुने! सर्वसामर्थ्यवान् ईश्वर! सब ठिकानों से हमारे लिये "भद्रम्" कल्याण को "आ वद" अच्छे प्रकार कहो अर्थात् कल्याण की ही आज्ञा और कथन करो, जिससे अकल्याण की बात भी कभी हम न सुनें। "विश्वतो, नः श०" हे सबको सुख देनेवाले ईश्वर! सब जगत् के लिये "पुण्यम्" धर्मात्मा के कर्म करने को "आ वद" उपदेश कर, जिससे कोई मनुष्य अधर्म करने की इच्छा भी न करे और सब ठिकाने में सत्यधर्म की प्रवृत्ति हो।

"आवदंस्त्वं श०" हे शकुने जगदीश्वर! आप सब "भद्रम्" कल्याण का भी कल्याण अर्थात् व्यावहारिक सुख के भी ऊपर मोक्ष-सुख का निरन्तर उपदेश कीजिये। "तूष्णीमासीनः सु०" हे अन्तर्यामिन्! हमारे हृदय में सदा स्थिर हो मौन से ही "सुमतिम्" सर्वोत्तम ज्ञान देओ। "चिकिद्धि नः" कृपा से हमको अपने रहने के लिये घर ही बनाओ और आपकी परमविद्या को हम प्राप्त हों। "यदुत्पतन्वद०" उत्तम व्यवहार में पहुँचाते हुए आपका (यथा) जिस प्रकार से "कर्करिर्वदसि" कर्त्तव्य कर्म, धर्म को ही अत्यन्त पुरुषार्थ से करो, अकर्त्तव्य दुष्ट कर्म मत करो ऐसा उपदेश है कि "पुरुषार्थ" अर्थात् यथायोग्य उद्यम को कभी कोई मत छोड़ो। जैसे "बृहद्वदेम विदथे" विज्ञानादि यज्ञ वा धर्मयुक्त युद्धों में "सुवीर" अत्यन्त शूरवीर होके बृहत् (सब से बड़े) आप जो परब्रह्म उन "वदेम" आपकी स्तुति, आपका उपदेश, आपकी प्रार्थना और उपासना तथा आपका

यह बड़ा अखण्ड साम्राज्य और सब मनुष्यों का हित सर्वदा करें, सुनें और आपके अनुग्रह से परमानन्द को भोगें ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

ओ३म् महाराजाधिराजाय परमात्मने नमो नमः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां महाविदुषां
श्रीयुत विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना
विरचित आर्याभिविनये प्रथमः प्रकाशः पूर्त्तिमागमत् ।
समाप्तोऽयं प्रथमः प्रकाशः ॥

※ ओ३म् ※

तत्सत्परमात्मने नमः

अथ द्वितीयः प्रकाशः

—:※※※:—

ओ३म् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु ।
सह वीर्य्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ।
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ १ ॥

तैत्तिरीयारण्यके ब्रह्मानन्दवल्ली प्रपा० १० । प्रथमानुवाकः ॥ १ ॥

व्याख्यान—हे सहनशीलेश्वर ! आप और हम लोग परस्पर प्रसन्नता से रक्षक हों । आपकी कृपा से हम लोग सदैव आपकी ही स्तुति, प्रार्थना और उपासना करैं तथा आपको ही पिता, माता, वन्धु, राजा, स्वामी, सहायक, सुखद, सुहृद् परमगुर्वादि जानें, क्षण-मात्र भी आपको भूल के न रहैं । आपके तुल्य वा अधिक किसी को कभी न जानें । आपके अनुग्रह से हम सब लोग परस्पर प्रीतिमान्, रक्षक, सहायक, परम पुरुषार्थी हों । एक दूसरे का दुःख न देख सकें, स्वदेशस्थादि मनुष्यों को अत्यन्त परस्पर निर्वैर प्रीतिमान्, पाखण्ड-रहित करैं "सह, नौ, भुनक्तु" तथा आप और हम लोग परस्पर परमानन्द का भोग करैं हम लोग परस्पर हित से आनन्द भोगैं कि आप हमको अपने अनन्त परमानन्द के भागी करैं उस आनन्द से हम

लोगों को क्षण भी अलग न रक्खें "सह, वीर्य्यं, करवावहै" आपकी सहायता से परमवीर्य जो सत्यविद्या, उसको परस्पर परमपुरुषार्थ से प्राप्त हों। "तेजस्विनावधीतमस्तु" हे अनन्त विद्यामय भगवन्! आपकी कृपादृष्टि से हम लोगों का पठनपाठन परम विद्यायुक्त हो तथा संसार में सबसे अधिक प्रकाशित हों और अन्योन्य प्रीति से परमवीर्य पराक्रम से निष्कण्टक चक्रवर्ती राज्य भोगें, हममें सब नीतिमान् सज्जन पुरुष हों और आप हम लोगों पर अत्यन्त कृपा करें जिससे कि हम लोग नाना पाखण्ड, असत्य, वेदविरुद्ध मतों को शीघ्र छोड के एक सत्यसनातनमतस्थ हों जिससे समस्त वैरभाव के मूल जो पाखंडमत, वे सब सद्यः प्रलय को प्राप्त हों "मा, विद्विषावहै" और हे जगदीश्वर! आपके सामर्थ्य से हम लोगों में परस्पर विद्वेष 'विरोध' अर्थात् अप्रीति न रहे जिससे हम लोग कभी परस्पर विद्वेष विरोध न करें किन्तु सब तन, मन, धन, विद्या इनको परस्पर सबके सुखोपकार में परमप्रीति से लगावें "ओ३म् शांतिः, शांतिः, शांतिः" हे भगवन! तीन प्रकार के सन्ताप जगत् में हैं—एक आध्यात्मिक (शारीरिक) जो ज्वरादि पीडा होने से होता है; दूसरा आधिभौतिक जो शत्रु, सर्प, व्याघ्र, चौरादिकों से होता है और तीसरा आधिदैविक जो मन, इन्द्रिय, अग्नि, वायु, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अतिशीत, अत्युष्णतेत्यादि से होता है; हे कृपासागर! आप इन तीनों पापों की शीघ्र निवृत्ति करें जिससे हम लोग अत्यानन्द में और आपकी अखण्ड उपासना मे सदा रहें।

हे विश्वगुरो! मुझको असत् (मिथ्या) और अनित्य पदार्थ तथा असत् काम से छुड़ा के सत्य तथा नित्य पदार्थ और श्रेष्ठ व्यवहार मे स्थिर कर। हे जगन्मङ्गलमय! (सर्वदुःखेभ्यो मोचयित्वा सर्वसुखानि प्रापय) सब दुःखों से मुझको छुड़ा के, सब सुखों को प्राप्त कर। (हे प्रजापते! सुप्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन,

परमैश्वर्येण, संयोजय) हे प्रजापते ! मुझको अच्छी प्रजा पुत्रादि, हस्त्यश्व गवादि उत्तम पशु सर्वोत्कृष्ट विद्या और चक्रवर्ती राज्यादि परमैश्वर्य जो स्थिर परमसुखकारक उसको शीघ्र प्राप्त कर । हे परमवैद्य ! (सर्वरोगात्पृथक्कृत्य नैरोग्यन्देहि) सर्वथा मुझको सब रोगों से छुडाके परम नैरोग्य दे । [हे सर्वान्तर्यामिन् सदुपदेशक शुद्धिप्रद !] (मनसा, वाचा, कर्मणा अज्ञानेन प्रमादेन वा यद्यत्पापं कृतं मया, तत्तत्सर्वं कृपया क्षमस्व ज्ञानपूर्वकपापकरणान्निवर्त्तयतु माम्) मन से, वाणी से और कर्म से, अज्ञान वा प्रमाद से जो जो पाप किया हो, किंवा करने का हो उस उस मेरे पाप को क्षमा कर ज्ञानपूर्वक पाप करने से मुझको रोक दे जिससे मै शुद्ध होके आपकी सेवा मे स्थिर होऊं । (हे न्यायाधीश ! कुकामकुलोभकुमोहभय-शोकालस्येर्ष्याद्वेषप्रमादविषयतृष्णानैष्ठुर्याभिमानदुष्टभावाविद्याभ्यो निवारय, एतेभ्यो विरुद्धेपूत्तमेपु गुणेषु सस्थापय माम्) हे ईश्वर ! कुकाम, कुलोभादि पूर्वोक्त दुष्ट दोषों को स्वकृपा से छुड़ा के श्रेष्ठ कामों में यथावत् मुझको स्थिर कर । मैं अत्यन्त दीन होके यही मांगता हूँ कि मैं आप और आपकी आज्ञा से भिन्न पदार्थ में कभी प्रीति न करूं । हे प्राणपते, प्राणप्रिय, प्राणपतिः, प्राणाधार, प्राणजीवन स्वराज्यप्रद ! मेरे प्राणपति आदि आप ही हो, मेरा सहायक आपके विना कोई नहीं है । हे महाराजाधिराज ! जैसा सत्य न्याययुक्त अखण्डित आपका राज्य है, वैसा न्यायराज्य हम लोगों का भी आपकी ओर से स्थिर हो । आपके राज्य के अधिकारी किङ्कर अपने कृपाकटाक्ष से हमको शीघ्र ही कर । न्यायप्रिय ! हमको भी न्यायप्रिय यथावत् कर । हे धर्माधीश ! हमको धर्म मे स्थिर रख । हे करुणामय पितः ! जैसे माता और पिता अपने सन्तानों का पालन करते है वैसे ही आप हमारा पालन करो ।। १ ।।

मूल स्तुति

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ २ ॥ यजुर्वेदे । अध्याये ४० । मन्त्र ८ ॥

व्याख्यान—"स, पर्यगात्" वह परमात्मा आकाश के समान सब जगह मे परिपूर्ण (व्यापक) है "शुक्रम्" सब जगत् का करनेवाला वही है । "अकायम्" और वह कभी शरीर (अवतार) नहीं धारण करता, क्योंकि वह अखण्ड और अनन्त, निर्विकार है इससे देहधारण कभी नही करता । उससे अधिक कोई पदार्थ नही है इससे ईश्वर का शरीर धारण करना कभी नहीं बन सकता "अव्रणम्" वह अखण्डैकरस, अच्छेद्य, अभेद्य, निष्कम्प और अचल है इससे अशाशिभाव भी उसमें नही है क्योंकि उसमे छिद्र किसी प्रकार से नहीं हो सकता "अस्नाविरम्" नाड़ी आदि का प्रतिबन्ध (निरोध) भी उसका नही हो सकता, अतिसूक्ष्म होने से ईश्वर का कोई आवरण नही हो सकता "शुद्धम्" वह परमात्मा सदैव निर्मल, अविद्यादि जन्म, मरण, हर्ष, शोक, क्षुधा, तृषादि दोषोपाधियों से रहित है, शुद्ध की उपासना करनेवाला शुद्ध ही होता है और मलिन का उपासक मलिन ही होता है "अपापविद्धम्" परमात्मा कभी अन्याय नही करता, क्योंकि वह सदैव न्यायकारी ही है "कविः" त्रैकालज्ञ, (सर्ववित्) महाविद्वान् जिसकी विद्या का अन्त कोई कभी नहीं ले सकता "मनीषी" सब जीवो के मन (विज्ञान) का साक्षी सबके मन का दमन करनेवाला है "परिभूः" सब दिशा और सब जगह मे परिपूर्ण हो रहा है, सबके ऊपर विराजमान है "स्वयम्भूः" जिसका आदिकारण माता पिता, उत्पादक कोई नहीं किन्तु वही सबका आदिकारण है "याथातथ्यतोर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः

समाभ्य:" उस ईश्वर ने अपनी प्रजा को यथावत् सत्य, सत्यविद्या जो चार वेद उनका सब मनुष्यों के परमहितार्थ उपदेश किया है, उस हमारे दयामय पिता परमेश्वर ने बड़ी कृपा से अविद्यान्धकार का नाशक, वेदविद्यारूप सूर्य्य प्रकाशित किया है और सबका आदिकारण परमात्मा है ऐसा अवश्य मानना चाहिये, ऐसे विद्यापुस्तक का भी आदिकारण ईश्वर को ही निश्चित मानना चाहिये, विद्या का उपदेश ईश्वर ने अपनी कृपा से किया है क्योंकि हम लोगो के लिये उसने सब पदार्थो का दान किया है तो विद्यादान क्यों न करेगा ? सर्वोत्कृष्टविद्या पदार्थ का दान परमात्मा ने अवश्य किया है तो वेद के विना अन्य कोई पुस्तक ससार मे ईश्वरोक्त नही है। जैसा पूर्ण विद्यावान् और न्यायकारी ईश्वर है वैसा ही वेदपुस्तक भी है, अन्य कोई पुस्तक ईश्वरकृत, वेदतुल्य वा अधिक नही है। अधिक विचार इस विषय का "सत्यार्थप्रकाश" मेरे किये ग्रन्थ मे देख लेना ।। २ ।।

मूल प्रार्थना

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।। ३ ।। यजु० ३६ । १८ ।।

व्याख्यान—हे अनन्तबल महावीर ईश्वर ! "दृते" हे दुष्ट-स्वभावनाशक विदीर्णकर्म अर्थात् विज्ञानादि शुभ गुणो का नाशकर्म करनेवाला मुझको मत रक्खो (मत करो) किन्तु उससे मेरे आत्मादि को पृथक् रख के विद्या, सत्य, धर्मादि शुभगुणो मे सदैव अपनी कृपा सामर्थ्य से स्थित करो "दृꣳह मा" हे परमैश्वर्यवन् भगवन् ! धर्म्मार्थकाममोक्षादि तथा विद्या-विज्ञानादि दान से

अत्यन्त मुझको बढ़ा "अमित्रस्येत्यादि०" हे सर्वसुहृदीश्वर सर्वान्तर्य्यामिन् ! सब भूत प्राणीमात्र मित्र की दृष्टि से यथावत् मुझको देखें, सब मेरे मित्र हो जायं, कोई मुझसे किञ्चिन्मात्र भी वैर दृष्टि न करे "मित्रस्याह् चेत्यादि" हे परमात्मन् ! आपकी कृपा से मैं भी निर्वैर होके सब भूत प्राणी और अप्राणी चराचर जगत् को मित्र की दृष्टि से स्वात्म स्वप्राणवत् प्रिय जानूं । अर्थात् "मित्रस्य, चक्षुषेत्यादि" पक्षपात छोड़ के सब जीव देहधारी मात्र अत्यन्त प्रेम से परस्पर वर्त्ताव करें, अन्याय से युक्त होके किसी पर भी न वर्त्तें, यह परमधर्म का सब मनुष्यों के लिये परमात्मा ने उपदेश किया है, सबको यही मान्य होने योग्य है ॥ ३ ॥

मूल स्तुति

तदे॒वाग्निस्तदा॑दि॒त्यस्तद्वा॒युस्तदु॑ च॒न्द्रमाः॑ ।

तदे॒व शु॒क्रं तद्ब्रह्म॒ ताऽआपः॒ स प्र॒जाप॑तिः ॥४॥ यजु० ३२ । १ ॥

व्याख्यान—जो सब जगत् का कारण एक परमेश्वर है, उसी का नाम अग्नि है ("ब्रह्म ह्यग्निः" शतपथे) सर्वोत्तम ज्ञानस्वरूप जानने के योग्य, प्रापणीयस्वरूप और पूज्यतमेत्यादि अग्नि शब्द का अर्थ है "आदित्यो वै ब्रह्म, वायुर्वै ब्रह्म, चन्द्रमा वै ब्रह्म, शुक्रं हि ब्रह्म, सर्वजगत्कर्तृ ब्रह्म, ब्रह्म वै बृहत्, आपो वै ब्रह्मेत्यादि" शतपथ तथा ऐतरेय ब्राह्मण के प्रमाण हैं "तदादित्यः" जिसका कभी नाश न हो, और स्वप्रकाशस्वरूप हो इससे परमात्मा का नाम आदित्य है "तद्वायुः" सब जगत् का धारण करनेवाला, अनन्त बलवान्, प्राणों से भी जो प्रियस्वरूप है इससे ईश्वर का नाम वायु है पूर्वोक्त प्रमाण से । "तदु चन्द्रमाः" जो आनन्दस्वरूप और स्वसेवकों को परमानन्द देनेवाला है इससे पूर्वोक्त प्रकार से चन्द्रमा परमात्मा

को जानना "तदेव, शुक्रम्" वही चेतनस्वरूप ब्रह्म सब जगत् का कर्त्ता है "तद्ब्रह्म" सो अनन्त चेतन सबसे बड़ा है और धर्मात्मा स्वभक्तों को अत्यन्त सुख विद्यादि सद्गुणो से बढ़ानेवाला है "ता आप:" उसी को सर्वज्ञ चेतन सर्वत्र व्याप्त होने से 'आप' नामक जानना, "स:, प्रजापति:" सो ही सब जगत् का पति (स्वामी) और पालन करनेवाला है, अन्य कोई नहीं, उसी को हम लोग इष्टदेव तथा पालक मानें, अन्य को नही ।। ४ ।।

मूल प्रार्थना

ऋचं वाचं प्र पद्ये मनो यजुः प्र पद्ये साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्र पद्ये । वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ ॥ ५ ॥

यजु० ३६ । १ ॥

व्याख्यान—हे करुणाकर परमात्मन् ! आपकी कृपा से मैं ऋग्वेदादिज्ञानयुक्त (श्रवणयुक्त) होके उसका वक्ता होऊं, तथा यजुर्वेदाभिप्रायार्थ सहित सत्यार्थमननयुक्त मन को प्राप्त होऊं, ऐसे ही सामवेदार्थनिश्चय निदिध्यासन सहित प्राण को सदैव प्राप्त होऊं "वागोज:" वाग्बल, वक्तृत्वबल, मुझको आप देवे, अन्तर्यामी की कृपा से मैं यथावत् प्राप्त होऊं "सहौज:" शरीर बल नैरोग्यदृढ़त्वादि गुणयुक्त को मैं आपके अनुग्रह से सदैव प्राप्त होऊं "मयि, प्राणापानौ" हे सर्वजनजीवनाधार ! प्राण (जिससे कि ऊर्ध्व चेष्टा होती है) और अपान (अर्थात् जिससे नीचे की चेष्टा होती है) ये दोनों मेरे शरीर मे सब इन्द्रिय, सब धातुओं की शुद्धि करने तथा नैरोग्य बल, पुष्टि, सरलगति कराने और मर्मस्थलो की रक्षा करनेवाले हों, उनके अनुकूल प्राणादि को प्राप्त होके आपकी कृपा से हे ईश्वर ! सदैव सुखयुक्त आपकी आज्ञा और उपासना में तत्पर रहूँ ।। ५ ।।

मूल स्तुति

स नो॒ बन्धु॑र्जनि॒ता स वि॑धा॒ता धामा॑नि वेद॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑ ।
यत्र॑ दे॒वाऽअ॒मृत॑मानशा॒नास्तृ॒तीये॒ धाम॑न्न॒ध्यैर॑यन्त ॥ ६ ॥
यजु० ३२ । १० ॥

व्याख्यान—वह परमेश्वर हमारा "बन्धुः" दुःखनाशक और सहायक है तथा "जनिता" सब जगत् तथा हम लोगों का भी पालन करनेवाला पिता तथा हम लोगों के कामों की सिद्धि का विधाता (पूर्ण काम की सिद्धि करनेवाला) वही है, सब जगत् का भी विधाता (रचने और धारण करनेवाला) एक परमात्मा ही है अन्य कोई नहीं "धामानि वेदेत्यादि" "विश्वा" सब 'धाम' अर्थात् अनेक लोक-लोकान्तरों को रच के अनन्त सर्वज्ञता से यथार्थ जानता है। वह कौन परमेश्वर है ? कि जिससे 'देव' अर्थात् विद्वान् लोग ("विद्वाꣳसो हि देवाः ।" शतपथ ब्रा०) अमृत, मरणादि दुःखरहित मोक्षपद में सब दुःखों से छूट के सर्वव्यापी पूर्णानन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होके परमानन्द में सदैव रहते हैं "तृतीये०" एक स्थूल (जगत् पृथिव्यादि) दूसरा सूक्ष्म (आदिकारण) तीसरा--सर्वदोषरहित, अनन्तानन्दस्वरूप परब्रह्म—उस धाम में "अध्यैरयन्त" धर्मात्मा विद्वान् लोग स्वच्छन्द (स्वेच्छा से) वर्त्तते हैं, सब बाधाओं से छूट के विज्ञानवान् शुद्ध होके देश, काल, वस्तु के परिच्छेदरहित सर्वगत "धामन्" आधारस्वरूप परमात्मा में रहते हैं, उससे दुःखसागर में कभी नहीं गिरते ॥ ६ ॥

मूल प्रार्थना

यतो यतः समीहसे ततो नोऽअभयं कुरु ।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥७॥ यजु० ३६ । २२ ॥

व्याख्यान—हे महेश्वर, दयालो ! जिस जिस देश से आप "समीहसे" सम्यक् चेष्टा करते हो उस उस देश से हमको अभय करो अर्थात् जहां जहां से हमको भय प्राप्त होने लगे, वहां वहा से सर्वथा हम लोगों को अभय (भयरहित) करो तथा प्रजा से हमको सुख करो, हमारी प्रजा सब दिन सुखी रहै, भय देनेवाली कभी न हो तथा पशुओं से भी हमको अभय करो, किंच किसी से किसी प्रकार का भय हम लोगों को आपकी कृपा से कभी न हो जिससे हम लोग निर्भय होके सदैव परमानन्द को भोगें और निरन्तर आपका राज्य तथा आपकी भक्ति करें ॥ ७ ॥

मूल स्तुति

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥८॥

यजु० ३१ । १८ ॥

व्याख्यान—सहस्रशीर्षादि विशेषणोक्त पुरुष सर्वत्र परिपूर्ण (पूर्णत्वात्पुरि शयनाद्वा पुरुष इति निरुक्तोक्तेः) है, उस पुरुष को मैं जानता हूं अर्थात् सब मनुष्यों को उचित है कि उस परमात्मा को अवश्य जानें, उसको कभी न भूलें, अन्य किसी को ईश्वर न जानें, वह कैसा है कि "महान्तम्" बड़ों से भी बड़ा, उससे बड़ा वा तुल्य कोई नहीं है "आदित्यवर्णम्" आदित्य का रचक और प्रकाशक वही

एक परमात्मा है तथा वह सदा स्वप्रकाशस्वरूप ही है, किंच "तमसः परस्तात्" तम जो अन्धकार अविद्यादि दोष उससे रहित ही है तथा स्वभक्त, धर्मात्मा, सत्य-प्रेमी जनों को भी अविद्यादिदोषरहित सद्यः करनेवाला वही परमात्मा है। विद्वानों का ऐसा निश्चय है कि परब्रह्म के ज्ञान और उसकी कृपा के विना कोई जीव कभी सुखी नहीं होता। "तमेव विदित्वेत्यादि०" उस परमात्मा को जान के ही जीव मृत्यु को उल्लङ्घन कर सकता है, अन्यथा नहीं क्योंकि "नाऽन्यः, पन्था, विद्यतेऽयनाय" विना परमेश्वर की भक्ति और उसके ज्ञान के मुक्ति का मार्ग कोई नहीं है, ऐसी परमात्मा की दृढ़ आज्ञा है। सब मनुष्यों को इसमे वर्त्तना चाहिये और सब पाखण्ड और जञ्जाल छोड़ देना चाहिये ॥ ८ ॥

मूल प्रार्थना

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥९॥

यजु० १९। ९॥

व्याख्यान—हे स्वप्रकाश! अनन्ततेज! आप अविद्यान्धकार से रहित हो, किंच सत्य विज्ञान तेजःस्वरूप हो, आप कृपादृष्टि से मुझमें वही तेज धारण करो जिससे मैं निस्तेज, दीन और भीरु कहीं कभी न होऊं। हे अनन्तवीर्य परमात्मा! आप वीर्यस्वरूप हो, आप सर्वोत्तम बल स्थिर मुझमें भी रक्खें। हे अनन्तपराक्रम! आप ओजः (पराक्रमस्वरूप) हो सो मुझमें भी उसी पराक्रम को सदैव धारण करो। हे दुष्टानामुपरि क्रोधकृत्! मुझमें भी दुष्टों पर क्रोध धारण कराओ। हे अनन्त सहनस्वरूप! मुझमें भी आप

सहनसामर्थ्यं धारण करो अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा इनके तेजादि गुण कभी मुझमें से दूर न हों जिससे मैं आपकी भक्ति का स्थिर अनुष्ठान करूं और आपके अनुग्रह से संसार में भी सदा सुखी रहूं ॥ ९ ॥

मूल स्तुति

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि संविवेश ॥ १० ॥

यजु० ३२ । ११ ॥

व्याख्यान—सब जीवों में (अर्थात् आकाश और प्रकृति से लेके पृथिवीपर्य्यन्त सब संसार में) वह परमेश्वर व्याप्त होके परिपूर्ण भर रहा है तथा सब लोक, सब पूर्वादि दिशा और ऐशान्यादि उपदिशा, ऊपर, नीचे अर्थात् एक कण भी उनके विना अपर्याप्त (खाली) नहीं "प्रथमजाम्" मुख्य प्राणी अपने आत्मा से अत्यन्त सत्याचरण, विद्या, श्रद्धा, भक्ति से "ऋतस्य" यथार्थ सत्यस्वरूप परमात्मा को "उपस्थाय" यथावत् जान उपस्थित (निकट प्राप्त) "अभिसंविवेश" अभिमुख होके उसमें प्रविष्ट अर्थात् परमानन्द-स्वरूप परमात्मा में प्रवेश करके, सब दुःखों से छूट उसी परमानन्द में रहता है ॥ १० ॥

मूल प्रार्थना

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र नो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ ११ ॥

यजु० ३४ । ३६ ॥

व्याख्यान—हे भगवन् ! परमैश्वर्यवन् ! "भग" ऐश्वर्य के दाता ! ससार वा परमार्थ मे आप ही हो तथा "भगप्रणेत:" आपके ही स्वाधीन सकल ऐश्वर्य है अन्य किसी के आधीन नहीं, आप जिसको चाहो उसको ऐश्वर्य देओ सो आप कृपा से हम लोगों का दारिद्रय-छेदन करके हमको परमैश्वर्यवाले करे क्योंकि ऐश्वर्य के प्रेरक आप ही हो। हे "सत्यराध." भगवन् ! सत्यैश्वर्य की सिद्धि करनेवाले आप ही हो सो आप नित्य ऐश्वर्य हमको दीजिये तथा जो मोक्ष कहाता है उस सत्य ऐश्वर्य का दाता आपसे भिन्न कोई भी नही है। हे सत्यभग ! पूर्ण ऐश्वर्य सर्वोत्तम बुद्धि हमको आप दीजिये जिससे हम लोग आपके गुण और आपकी आज्ञा का अनुष्ठान, ज्ञान इनको यथावत् प्राप्त हों, हमको सत्यबुद्धि, सत्यकर्म और सत्यगुणों को "उदव" (उद्गमय प्रापय) प्राप्त कर, जिससे हम लोग सूक्ष्म से भी सूक्ष्म पदार्थों को यथावत् जानें "भग प्र नो जनय" हे सर्वैश्वर्योत्पादक ! हमारे लिये ऐश्वर्य को अच्छे प्रकार से उत्पन्न कर, सर्वोत्तम गाय, घोड़े और मनुष्य इनसे सहित अत्युत्तम ऐश्वर्य हमको सदा के लिये दीजिये। हे सर्वशक्तिमन् ! आपकी कृपा से सब दिन हम लोग उत्तम उत्तम पुरुष, स्त्री और सन्तान, भृत्यवाले हों। आपसे हमारी अधिक यही प्रार्थना है कि कोई मनुष्य हम में दुष्ट और मूर्ख न रहै, न उत्पन्न हो जिससे हम लोगों की सर्वत्र सत्कीर्त्ति हो और निन्दा कभी न हो ।। ११ ।।

मूल प्रार्थना

तदे॑जति॒ तन्नैज॑ति॒ तद्दू॒रे तद्व॑न्ति॒के।
तद॒न्तर॑स्य॒ सर्व॑स्य॒ तदु॒ सर्व॑स्यास्य बाह्य॒तः ।। १२ ।।

यजु० ४० । ५ ।।

व्याख्यान—"तद् एजति" वह परमात्मा सब जगत् को यथायोग्य अपनी अपनी चाल पर चला रहा है सो अविद्वान् लोग ईश्वर में भी आरोप करते हैं कि वह भी चलता होगा परन्तु वह सब में पूर्ण है, कभी चलायमान नहीं होता अत एव "तैन्नजति" (यह प्रमाण है) स्वत: वह परमात्मा कभी नही चलता, एकरस निश्चल होके भरा है, विद्वान् लोग इसी रीति से ब्रह्म को जानते हैं 'तद्दूरे" अधर्मात्मा अविद्वान्, विचारशून्य, अजितेन्द्रिय, ईश्वरभक्तिरहित इत्यादि दोषुयुक्त मनुष्यों से वह ईश्वर बहुत दूर है अर्थात् वे कोटि कोटि वर्ष तक उसको नहीं प्राप्त होते, वे तब तक जन्ममरणादि दु:खसागर में इधर-उधर घूमते फिरते है कि जब तक उसको नहीं जानते "तद्वन्तिके" सत्यवादी, सत्यकारी, सत्यमानी, जितेन्द्रिय, सर्वजनोपकारक, विद्वान्, विचारशील पुरुषों के 'अन्तिके' अत्यन्त निकट है, किंच वह सबके आत्माओं के बीच में अन्तर्यामी व्यापक होके सर्वत्र पूर्ण भर रहा है, वह आत्मा का भी आत्मा है क्योंकि परमेश्वर सब जगत् के भीतर और बाहर तथा मध्य अर्थात् एक तिलमात्र भी उसके विना खाली नही है, वह अखण्डैकरस सबमें व्यापक हो रहा है, उसी को जानने से ही सुख और मुक्ति होती है अन्यथा नहीं ।। १२ ।।

मूल प्रार्थना

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬं श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳬंस्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् । स्तोमश्च

यजुश्चऽऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरं च । स्वर्देवाऽअगन्मामृता अभूम प्रजापतेः प्रजाऽअभूम वेट् स्वाहा ॥१३॥

यजु० १८ । २९ ॥

व्याख्यान—(यज्ञो वै विष्णुः, यज्ञो वै ब्रह्मेत्याद्यैतरेयशतपथब्राह्मणश्रु०) यज्ञ यजनीय जो सब मनुष्यो का पूज्य इष्टदेव परमेश्वर उसके अर्थ अतिश्रद्धा से सब मनुष्य सर्वस्व समर्पण यथावत् करें, यही इस मन्त्र में उपदेश और प्रार्थना है कि हे सर्वस्वामिन् ईश्वर ! जो यह आपकी आज्ञा है कि सब लोग सब पदार्थ मेरे अर्पण करें, इस कारण हम लोग "आयुः" उमर, प्राण, चक्षु (आंख), कान, वाणी, मन, आत्मा, जीव, ब्रह्म, वेदविद्या और विद्वान्, ज्योति (सूर्यादि लोक अग्न्यादि पदार्थ), स्वर्ग (सुखसाधन), पृष्ठ (पृथिव्यादि सब लोक आधार) तथा पुरुषार्थ, यज्ञ (जो जो अच्छा काम हम लोग करते हैं), स्तोम, स्तुति, यजुर्वेद, ऋग्वेद, सामवेद, चकार से अथर्ववेद, बृहद्रथन्तर, महारथन्तर, साम इत्यादि सब पदार्थ आपके समर्पण करते हैं । हम लोग तो केवल आपके ही शरण हैं । जैसी आपकी इच्छा हो वैसा हमारे लिये आप कीजिये, परन्तु हम लोग आपके सन्तान आपकी कृपा से "स्वरगन्म" उत्तम सुख को प्राप्त हों । जब तक जीवें तब तक सदा चक्रवर्त्ती राज्यादि भोग से सुखी रहैं और मरणानन्तर भी हम सुखी ही रहै । हे महादेवामृत ! हम लोग देव (परमविद्वान्) हों तथा अमृत मोक्ष जो आपकी प्राप्ति उसको प्राप्त हो । "वेट्स्वाहा" आपकी आज्ञा के पालन और जिससे आपकी प्राप्ति हो उस क्रिया में सदा तत्पर रहै तथा अन्तर्यामी आप हृदय में आज्ञा करें अर्थात् जैसा हमारे हृदय में ज्ञान हो वैसा ही सदा भाषण करें, इससे विपरीत कभी नहीं । हे कृपानिधे ! हम लोगो का योगक्षेम (सब निर्वाह) आप ही सदा करो । आपके सहाय से सर्वत्र हमको विजय और सुख मिले ॥ १३ ॥

मूल स्तुति

यस्मान्न जातः परोऽअन्योऽअस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतींꣳषि सचते स षोडशी
॥ १४ ॥ यजु० ८। ३६ ॥

व्याख्यान—जिससे बडा, तुल्य वा श्रेष्ठ न हुआ, न है और न कोई कभी होगा, उसको परमात्मा कहना। जो "विश्वा भुवनानि" सब भवन (लोक) सब पदार्थों के निवासस्थान असंख्यात लोकों को "आविवेश" प्रविष्ट होके पूर्ण हो रहा है, वही ईश्वर प्रजा का पति (स्वामी) है, सब प्रजा को रमा रहा और सब प्रजा में रम रहा है "त्रीणीत्यादि" तीन ज्योति अग्नि, वायु और सूर्य इनको जिसने रचा है, सब जगत् के व्यवहार और पदार्थविद्या की उत्पत्ति के लिये इन तीनो को मुख्य समझना। "स षोडशी" सोलहकला जिसने उत्पन्न की है, इससे सोलह कलावान् ईश्वर कहाता है। वे सोलहकला ये है—ईक्षण (विचार) १, प्राण २, श्रद्धा ३, आकाश ४, वायु ५, अग्नि ६, जल ७, पृथिवी ८, इन्द्रिय ९, मन १०, अन्न ११, वीर्य (पराक्रम) १२, तप (धर्मानुष्ठान) १३, मन्त्र (वेदविद्या) १४, कर्म (चेष्टा) १५ और लोक (लोकों में नाम) १६, इतनी कलाओं के बीच मे सब जगत् है और परमेश्वर में अनन्तकला है। उसकी उपासना छोड़ के जो दूसरे की उपासना करता है वह सुख को प्राप्त कभी नही होता किन्तु सदा दुःख में ही पड़ा रहता है॥ १४॥

मूल स्तुति

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥ १५ ॥ यजु० ३ । २४ ॥

व्याख्यान—("ब्रह्म ह्यग्निः" इत्यादि शतपथादिप्रामाण्याद् ब्रह्मैवात्राग्निर्ग्राह्य.) हे विज्ञानस्वरूपेश्वराग्ने ! आप हमारे लिये "सूपायन:" सुख से प्राप्त, श्रेष्ठोपाय के प्रापक, अत्युत्तम स्थान के दाता कृपा से सर्वदा हो तथा रक्षक भी हमारे आप ही हो। हे स्वस्तिद परमात्मन् ! सब दुःखों का नाश करके हमारे लिये सुख का वर्त्तमान सदैव कराओ, जिससे हमारा वर्त्तमान श्रेष्ठ ही हो। "स नः पितेव सूनवे" जैसे करुणामय पिता अपने पुत्र को सुखी ही रखता है, वैसे आप हमको सदा सुखी रक्खो क्योंकि जो हम लोग बुरे होंगे तो उन आपकी शोभा नहीं होना, किञ्च सन्तानों को सुधारने से ही पिता की शोभा और बड़ाई होती है, अन्यथा नहीं ॥ १५ ॥

मूल स्तुति

विभूरसि प्रवाहणः । वह्निरसि हव्यवाहनः ।
श्वात्रोऽसि प्रचेताः । तुथोऽसि विश्ववेदाः ॥
उशिगसि कविः । अङ्घारिरसि बम्भारिः । अवस्यूरसि दुवस्वान् ।
शुन्ध्यूरसि मार्जालीयः । सम्राडसि कृशानुः । परिषद्योऽसि पवमानः ।
नभोऽसि प्रतक्वा । मृष्टोऽसि हव्यसूदनः । ऋतधामासि स्वर्ज्योतिः ॥
समुद्रोऽसि विश्वव्यचाः । अजोऽस्येकपात् । अहिरसि बुध्न्यः ।

वार्गस्यैन्द्रमसि सदोऽसि । ऋतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तम् । अध्वनामध्वपते प्र मा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि देवयाने भूयात् ॥

१६ । १७ । १८ ॥ यजु० ५ । ३१ । ३२ । ३३ ॥

व्याख्यान—हे व्यापकेश्वर ! आप विभु हो अर्थात् सर्वत्र प्रकाशित वैभवैश्वर्ययुक्त हो किन्तु और कोई नही, विभु होके आप सब जगत् के प्रवाहण (स्वस्वनियमपूर्वक चलानेवाले) तथा सबके निर्वाहकारक भी हो । हे स्वप्रकाशक सर्वरसवाहकेश्वर ! आप वह्नि है अर्थात् सब हव्य उत्कृष्ट रसों के भेदक, आकर्षक तथा यथावत् स्थापक हो । हे आत्मन् ! आप शीघ्र व्यापनशील हो तथा प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप, प्रकृष्ट ज्ञान के देनेवाले हो । हे सर्ववित् ! आप तुथ और विश्ववेदा हो, "तुथो वै ब्रह्म" (यह शतपथ की श्रुति है) सब जगत् में विद्यमान, प्राप्त और लाभ करानेवाले हो ।। १६ ।।

हे सर्वप्रिय ! आप "उशिक्" कमनीयस्वरूप अर्थात् सब लोग जिसको चाहते हैं क्योंकि आप "कवि" पूर्ण विद्वान् हो तथा आप "अङ्घारि" हो अर्थात् स्वभक्तो का जो अघ (पाप) उसके अरि (शत्रु) हो उस समस्त पाप के नाशक हो तथा "बम्भारिः" स्वभक्तो और सब जगत् के पालन तथा धारण करनेवाले हो "अवस्यूरसि दुवस्वान्" अन्नादि पदार्थ अपने भक्तों, धर्मात्माओं को देने की इच्छा सदा करते हो तथा परिचरणीय विद्वानों से सेवनीयतम हो "शुन्ध्युरसि, मार्ज्जालीयः" शुद्धस्वरूप और जगत् के शोधक तथा पापों का मार्जन (निवारण) करनेवाले आप ही हो, अन्य कोई नहीं "सम्राडसि कृशानुः" सब राजाओं के महाराज तथा कृश दीनजनों के प्राण के सुखदाता आप ही हो "परिषद्योसि पवमानः" हे न्यायकारिन् ! पवित्र परमेश्वर, सभा के आज्ञापक, सभ्य, सभापति, सभाप्रिय, सभारक्षक आप ही हो तथा पवित्रस्वरूप, पवित्रकारक, सभा से ही

सुखदायक, पवित्रप्रिय आप ही हो "नभोऽसि प्रतक्वा" हे निर्विकार! आकाशवत् आप क्षोभरहित अतिसूक्ष्म होने से आपका नाम 'नभ' है तथा "प्रतक्वा" सबके ज्ञाता, सत्यासत्यकारी जनों के कर्मों की साक्ष्य रखनेवाले कि जिसने जैसा पाप वा पुण्य किया हो, उसको वैसा फल मिले, अन्य का पुण्य वा पाप अन्य को कभी न मिले "मृष्टोसि हव्यसूदनः" मृष्ट शुद्धस्वरूप सब पापों के मार्जक, शोधक तथा "हव्यसूदनः" मिष्ट, सुगन्ध, रोगनाशक, पुष्टिकारक इन द्रव्यों से वायु-वृष्टि की शुद्धि करने-करानेवाले हो, अत एव सब द्रव्यों के विभागकर्त्ता आप ही हो, इससे आपका नाम "हव्यसूदन" है "ऋत-धामासि स्वर्ज्योतिः" हे भगवन्! आपका ही धाम स्थान सर्वगत सत्य और यथार्थ स्वरूप है, यथार्थ (सत्य) व्यवहार में ही आप निवास करते हो "स्वः" आप सुखस्वरूप और सुखकारक हो तथा 'ज्योतिः' स्वप्रकाश और सबके प्रकाशक आप ही हो ।। १७ ।।

"समुद्रोऽसि विश्वव्यचाः" हे द्रवणीयस्वरूप ! सब भूतमात्र आप ही में द्रवे है क्योंकि कार्य-कारण में ही मिले हैं, आप सबके कारण हो तथा सहज से सब जगत् को विस्तृत किया है, इससे आप "विश्वव्यचाः" हैं "अजोस्येकपात्" आपका जन्म कभी नहीं होता और यह सब जगत् आपके किञ्चिन्मात्र एक देश में है, आप अनन्त हो "अहिरसि बुध्न्य." आपकी हीनता कभी नहीं होती तथा सब जगत् के मूलकारण और अन्तरिक्ष में भी सदा आप ही पूर्ण रहते हो "वागस्यैन्द्रमसि सदोसि" सब शास्त्र के उपदेशक अनन्तविद्यास्वरूप होने से आप वाक् हो, परमैश्वर्यस्वरूप सब विद्वानों में अत्यन्त शोभायमान होने से आप ऐन्द्र हो, सब संसार आप में ठहर रहा है, इससे आप सदा (सभास्वरूप) हो "ऋतस्य द्वारौ मा मा संताप्तम्" सत्यविद्या और धर्म ये दोनों मोक्षस्वरूप आपकी प्राप्ति के द्वार हैं, उनको संतापयुक्त हम लोगों के लिये कभी मत रक्खो किन्तु

सुखस्वरूप ही खुले रक्खो, जिससे हम लोग सहज से आपको प्राप्त हों "अध्वनामित्यादि" हे अध्वपते ! परमार्थ और व्यवहार मार्गों में मुझको कहीं क्लेश मत होने दे किन्तु उन मार्गों मे मुझको स्वस्ति (आनन्द) आपकी कृपा से रहै, किसी प्रकार का दु:ख हमको न रहै ॥ १८ ॥

मूल स्तुति

देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि । मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि । पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमसि । आत्मकृतस्यैनसोऽवयजनमसि । एनस एनसोऽवयजनमसि । यच्चाहमेनो विद्वांश्चकार यच्चाविद्वांस्तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि ॥ १९ ॥ यजु० ८ । १३ ॥

व्याख्यान—हे सर्वपापप्रणाशक ! "देवकृत:०" इन्द्रिय, विद्वान् और दिव्यगुणयुक्त जन के दु:ख के नाशक एक ही आप हो, अन्य कोई नहीं, एवं मनुष्य (मध्यस्थजन), पितृ (परमविद्यायुक्त जन) और "आत्मकृत०" जीव के पापों से तथा 'एनस०" पापों से भी बड़े पापों से आप ही 'अवयजन' हो अर्थात् सर्व पापों से अलग हो और हम सब मनुष्यों को भी पाप से दूर रखनेवाले एक आप ही दयामय पिता हो । हे महानन्तविद्य ! जो जो मैंने विद्वान् वा अविद्वान् होके पाप किया हो, उन सब पापों का छुड़ानेवाला आपके विना कोई भी इस संसार में हमारा शरण नहीं है, इससे हमारे अविद्यादि सब पाप छुड़ा के शीघ्र हमको शुद्ध करो ॥ १९ ॥

मूल स्तुति

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक ऽआसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२०॥

यजु० १३ । ४ ॥

व्याख्यान—जब सृष्टि नहीं हुई थी तब एक अद्वितीय "हिरण्यगर्भ" (जो सूर्य्यादि तेजस्वी पदार्थों का गर्भ नाम उत्पत्तिस्थान उत्पादक) है सो ही प्रथम था, वह सब जगत् का सनातन प्रादुर्भूत प्रसिद्ध पति है, वही परमात्मा पृथिवी से ले के प्रकृतिपर्यन्त जगत् को रच के धारण करता है, "कस्मै" (प्रजापतये कः प्रजापतिः, प्रजापतिर्वै-कस्तस्मै देवाय, शतपथे) प्रजापति जो परमात्मा उसकी पूजा आत्मादि पदार्थों के समर्पण से यथावत् करें, उससे भिन्न की उपासना लेशमात्र भी हम लोग न करें, जो परमात्मा को छोड़ के वा उसके स्थान में दूसरे की पूजा करता है, उसकी और उस देश भर की अत्यन्त दुर्दशा होती है यह प्रसिद्ध है, इससे चेतो मनुष्यो ! जो तुमको सुख की इच्छा हो तो एक निराकार परमात्मा की यथावत् भक्ति करो अन्यथा तुमको कभी सुख न होगा ॥ २० ॥

मूल प्रार्थना

इन्द्रो विश्वस्य राजति । शं नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥

शं नो वातः पवताꣳ शं नस्तपतु सूर्यः ।
शं नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्योऽअभिवर्षतु ॥

अहा॑नि॒ शं भव॑न्तु नः॒ शꣳरात्री॒: प्रति॑धीयताम् ।
शं न॑ इन्द्रा॒ग्नी भ॑वता॒मवो॑भि॒: शं न॒ इन्द्रा॒वरु॑णा रा॒तह॑व्या ।
शं न॑ इन्द्रापू॒षणा॒ वाज॑सातौ॒ शमिन्द्रा॒सोमा॑ सु॒वि॒ताय॒ शंयो: ॥

२१ । २२ । २३ ॥ यजु० ३६ । ८ । १० । ११ ॥

व्याख्यान—हे इन्द्र ! आप परमैश्वर्ययुक्त सब संसार के राजा हो, सर्वप्रकाशक हो । हे रक्षक ! आप कृपा से हम लोगों के "द्विपदे" जो पुत्रादि, उनके लिये परमसुखदायक हो तथा "चतुष्पदे" हस्ती अश्व और गवादि पशुओं के लिये भी परमसुखदायक हो, जिससे हम लोगों को सदा आनन्द ही रहै ।। २१ ।।

हे सर्वनियन्त: ! हमारे लिये सुखकारक, सुगन्ध, शीतल और मन्द-मन्द वायु सदैव चले एवं सूर्य भी सुखकारक तपे तथा मेघ भी सुख का शब्द लिये अर्थात् गर्जनपूर्वक सदैव काल काल मे सुखकारक वर्षा वर्षे, जिससे आपके कृपापात्र हम लोग सुखानन्द ही में सदा रहैं ।। २२ ।।

हे क्षणादि कालपते ! सब दिवस आपके नियम से सुखरूप ही हमको हों, हमारे लिये सर्व रात्रि भी आनन्द से बीतें । हे भगवन् ! दिन और रात्रियों को सुखकारक ही आप स्थापन करो, जिससे सब समय में हम लोग सुखी ही रहैं । हे सर्वस्वामिन् ! "इन्द्राग्नी" सूर्य तथा अग्नि ये दोनों हमको आपके अनुग्रह से और नानाविध रक्षाओं से सुखकारक हों "इन्द्रावरुणा रातहव्या" हे प्राणाधार ! होम से शुद्धिगुणयुक्त हुए आपकी प्रेरणा से वायु और चन्द्र हम लोगों के लिये सुखरूप ही सदा हों "इन्द्रापूषणा, वाजसातौ" हे प्राणपते ! आपकी रक्षा से पूर्ण आयु और बलयुक्त प्राणवाले हम लोग अपने अत्यन्त पुरुषार्थयुक्त युद्ध में स्थिर रहै, जिससे शत्रुओं के सम्मुख हम निर्बल कभी न हों "इन्द्रासोमा सुविताय शंयो:" (प्राणापानौ वा

इन्द्राग्नी इत्यादि शतपथे) हे महाराज ! आपके प्रबन्ध से राजा और प्रजा परस्पर विद्यादि सत्यगुणयुक्त होके अपने ऐश्वर्य का उत्पादन करें तथा आपकी कृपा से परस्पर प्रीतियुक्त हों, अत्यन्त सुख लाभों को प्राप्त हों, आप हम पुत्र लोगों को सुखी देख के अत्यन्त प्रसन्न हो और हम भी प्रसन्नता से आप और जो आपकी सत्य आज्ञा उसमे ही तत्पर हों ॥ २३ ॥

मूल स्तुति

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत् ।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पिताऽसत् ॥२४॥

यजु० ३२ । ९ ॥

व्याख्यान—हे वेदादिशास्त्र और विद्वानों के प्रतिपादन करने योग्य ! जो अमृत (मरणादि दोषरहित) मुक्तों का धाम (निवासस्थान) सर्वगत सबका धारण और पोषण करनेवाला, सबकी बुद्धियों का साक्षी ब्रह्म है, उस आपका उपदेश तथा धारण जो विद्वान् जानता है, वह गन्धर्व कहाता है (गच्छतीति गं = ब्रह्म, तद्धरतीति स गन्धर्वः) सर्वगत ब्रह्म को जो धारण करनेवाला उसका नाम गन्धर्व है तथा परमात्मा के तीन पद हैं—जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने के सामर्थ्य को तथा ईश्वर को जो स्वहृदय में जानता है, वह पिता का भी पिता है अर्थात् विद्वानों में भी विद्वान् है ॥ २४ ॥

मूल प्रार्थना

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ २५ ॥ यजु० ३६ । १७ ॥

व्याख्यान—हे सर्वदुःख की शान्ति करनेवाले ! सब लोकों के ऊपर जो आकाश सो सर्वदा हम लोगों के लिये शान्त (निरुपद्रव) सुखकारक ही रहे, अन्तरिक्ष मध्यस्थ लोक और उसमें स्थित वायु आदि पदार्थ, पृथिवी, पृथिवीस्थ पदार्थ, जल, जलस्थ पदार्थ, ओषधि, तत्रस्थ गुण, वनस्पति, तत्रस्थ पदार्थ, विश्वेदेव (जगत् के सब विद्वान्) तथा विश्वद्योतक वेदमन्त्र, इन्द्रिय, सूर्यादि, उनकी किरण, तत्रस्थ गुण, ब्रह्म=परमात्मा तथा वेदशास्त्र, स्थूल और सूक्ष्म, चराऽचर जगत् ये सब पदार्थ हमारे लिये हे सर्वशक्तिमन् परमात्मा ! आपकी कृपा से शान्त (निरुपद्रव) सदानुकूल सुखदायक हों, मुझको भी वह शान्ति प्राप्त हो, जिससे मैं भी आपकी कृपा से शान्त, दुष्टक्रोधादि उपद्रवरहित होऊं तथा सब संसारस्थ जीव भी दुष्टक्रोधादि उपद्रवरहित ही हों ॥ २५ ॥

मूल स्तुति

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च
नमः शङ्कराय च मयस्कराय च
नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ २६ ॥

यजु० १६ । ४१ ॥

व्याख्यान—हे कल्याणस्वरूप, कल्याणकर! आप 'शंभव' हो (मोक्ष सुखस्वरूप और मोक्ष-सुख के करनेवाले हो), आपको नमस्कार है, आप 'मयोभव' हो, सांसारिक सुख के करनेवाले आपको मैं नमस्कार करता हूं, आप 'शङ्कर' हो, आप से ही जीवों का कल्याण होता है, अन्य से नही तथा 'मयस्कर' अर्थात् मन, इन्द्रिय, प्राण और आत्मा को सुख करनेवाले आप ही हो, आप 'शिव' (मङ्गलमय) हो तथा 'शिवतर' (अत्यन्त कल्याणस्वरूप और कल्याणकारक) हो, इससे आपको हम लोग वारम्वार नमस्कार करते हैं (नमो नम इति यज्ञः, शतपथे) श्रद्धा-भक्ति से जो जन ईश्वर को नमस्कारादि करता है, सो मङ्गलमय ही होता है ।। २६ ।।

मूल प्रार्थना

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाᳬसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ।। २७ ।।

यजु० २५ । २१ ।।

व्याख्यान—हे देवेश्वर! देव विद्वानो! हम लोग कानों से सदैव 'भद्र' कल्याण को ही सुनें, अकल्याण की बात भी न सुनें। हे यजनीयेश्वर! हे यज्ञकर्त्तारो! हम आँखो से कल्याण (मङ्गलसुख) को ही सदा देखें, हे जनो! हे जगदीश्वर! हमारे सब अङ्ग-उपाङ्ग (श्रोत्रादि इन्द्रिय तथा सेनादि उपाङ्ग) स्थिर (दृढ़) सदा रहें, जिनसे हम लोग स्थिरता से आपकी स्तुति और आपकी आज्ञा का अनुष्ठान सदा करें तथा हम लोग आत्मा, शरीर, इन्द्रिय और विद्वानों के हितकारक आयु को विविध सुखपूर्वक प्राप्त हों अर्थात् सदा सुख में ही रहै ।। २७ ।।

मूल स्तुति

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन ऽआवः ।
स बुध्न्या ऽउपमा ऽअस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः ॥२८॥

यजु० १३ । ३ ॥

व्याख्यान—हे महीय परमेश्वर ! आप बड़ों से भी बड़े हो, आप से बड़ा वा आपके तुल्य कोई नहीं है "जज्ञानम्" सब जगत् में व्यापक (प्रादुर्भूत) हो, सब जगत् के प्रथम (आदिकारण) आप ही हो, सूर्यादि लोक "सीमतः" सीमा से युक्त (मर्यादा सहित) "सुरुचः" आपसे प्रकाशित हैं, "पुरस्तात्" इनको पूर्व रच के आप ही धारण कर रहे हो, (व्यावः) इन सब लोकों को विविध नियमों से पृथक् पृथक् यथायोग्य वर्त्ता रहे हो, "वेनः" आपके आनन्दस्वरूप होने से ऐसा कोई जन संसार मे नही है जो आपकी कामना न करै किन्तु सब ही आपको मिला चाहते हैं तथा आप अनन्त विद्यायुक्त हो, सब रीति से रक्षक आप ही हो। सो ही परमात्मा "बुध्न्याः" अन्तरिक्षान्तर्गत दिशादि पदार्थों को "विवः" विवृत (विभक्त) करता है। वे अन्तरिक्षादि "उपमा" सब व्यवहारो में उपयुक्त होते है और वे इस विविध जगत् के निवासस्थान है। "सत्" विद्यमान स्थूल जगत् "असत्" अविद्या चक्षुरादि इन्द्रियों से अगोचर इस विविध जगत् की "योनि" आदि कारण आपको ही वेद, शास्त्र और विद्वान् लोग कहते है, इससे इस जगत् के माता-पिता आप ही हैं, हम लोगों के भजनीय इष्टदेव है ॥ २८ ॥

मूल प्रार्थना

सुमित्रिया न ऽ आप ऽ ओषधयः सन्तु । दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ २९ ॥

यजु० [६ । २२ ॥] ३६ । २३ ॥

व्याख्यान—हे सर्वमित्रसम्पादक ! आपकी कृपा से प्राण और जल तथा विद्या और ओषधी "सुमित्रियाः" (सुखदायक) हम लोगों के लिये सदा हों, कभी प्रतिकूल न हों और जो हमसे द्वेष अप्रीति शत्रुता करता है तथा जिस दुष्ट से हम द्वेष करते हैं, हे न्यायकारिन् ! उसके लिये "दुर्मित्रियाः" पूर्वोक्त प्राणादि प्रतिकूल दुःखकारक ही हों ! अर्थात् जो अधर्म करे उसको आपके रचे जगत् के पदार्थ दुःखदायक ही हों, जिससे वह [अधर्म न करे और] हमको दुःख न दे सके, पुनः हम लोग सदा सुखी ही रहें ॥ २९ ॥

मूल प्रार्थना

य ऽ इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः । स ऽ आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छद्वराँ२॥ऽआविवेश॥३०॥

यजु० १७ । १७ ॥

व्याख्यान—"होता" उत्पत्ति समय में देने और प्रलय समय में सबको लेनेवाला परमात्मा ही है "ऋषिः" सर्वज्ञ इन सब लोक-लोकान्तर भुवनों का अपने सामर्थ्यकारण में होम (प्रलय) करके "न्यसीदत्" नित्य अवस्थित रहता है, सो ही हमारा पिता है, फिर जब "द्रविण" द्रव्यरूप जगत् को स्वेच्छा से उत्पन्न किया चाहता है, उस "आशिषा" सामर्थ्य से यथायोग्य विविध जगत् को

सहजस्वभाव से रच देता है। इस चराचर "प्रथमच्छत्" विस्तीर्ण जगत् को रच के अनन्तस्वरूप से आच्छादित किया है और अन्तर्यामी साक्षीस्वरूप उसमें प्रविष्ट हो रहा है अर्थात् बाहर और भीतर परिपूर्ण हो रहा है, वही हमारा निश्चित पिता है, उसकी सेवा छोड़ के जो मनुष्य अन्य मूर्त्यादि की सेवा करता है, वह कृतघ्नत्वादि महादोषयुक्त हो के सदैव दुःखभागी होता है। जो मनुष्य परम-दयामय पिता की आज्ञा में रहता है, वह सर्वानन्द का सदैव भोग करता है ।। ३० ।।

मूल स्तुति

इषे पिन्वस्व । ऊर्जे पिन्वस्व । ब्रह्मणे पिन्वस्व । क्षत्राय पिन्वस्व । द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व । धर्मासि सुधर्म । अमेन्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय ।। ३१ ।।

यजु० ३८ । १४ ।।

व्याख्यान—हे सर्वसौख्यप्रदेश्वर ! हमको "इषे" उत्तमान्न के लिये पुष्ट कर, अन्न के अपचन वा कुपच के रोगों से बचा तथा विना अन्न के दुःखी हम लोग कभी न हों। हे महाबल ! "ऊर्जे" अत्यन्त पराक्रम के लिये हमको पुष्ट कर। हे वेदोत्पादक ! "ब्रह्मणे" सत्य वेदविद्या के लिये बुद्ध्यादि बल से सदैव हमको पुष्ट और बलयुक्त कर। हे महाराजाधिराज परब्रह्मन् ! "क्षत्राय" अखण्ड चक्रवर्ती राज्य के लिये शौर्य, धैर्य, नीति, विनय, पराक्रम और

हमको समर्थ कर। हे सुष्ठु धर्मशील! तू धर्मकारी हो तथा धर्मस्वरूप ही हो। हम लोगों को भी कृपा से धर्मात्मा कर। "अमेनि" तू निर्वैर है, हमको भी निर्वैर कर तथा कृपादृष्टि से "अस्मे" (अस्मभ्यम्) हमारे लिये "नृम्णानि" विद्या, पुरुषार्थ, हस्ती, अश्व, सुवर्ण, हीरादिरत्न, उत्कृष्ट राज्य, उत्तम पुरुष और प्रीत्यादि पदार्थों को धारण कर, जिससे हम लोग किसी पदार्थ के विना दुःखी न हों। हे सर्वाधिपते! "ब्राह्मण" (पूर्णविद्यादि सद्गुणयुक्त) "क्षत्र" (बुद्धि, विद्या तथा शौर्यादि गुणयुक्त) "विश" अनेक विद्योद्यम, बुद्धि, विद्या, धन और धान्यादि बलयुक्त यथा "शूद्रादि" भी सेवादि गुणयुक्त उत्तम हमारे राज्य में हों, इन सबका धारण आप ही करो, जिससे अखण्ड ऐश्वर्य हमारा आपकी कृपा से सदा बना रहै ॥ ३१ ॥

मूल स्तुति

किꣳ स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत् ।
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥३२॥

यजु० १७ । १८ ॥

व्याख्यान—(प्रश्नोत्तर विद्या से—) इस संसार का अधिष्ठान क्या है? कारण और उत्पादक कौन है? किस प्रकार से है? तथा रचना करनेवाले ईश्वर का अधिष्ठानादि क्या है? तथा निमित्त-कारण और साधन—जगत् वा ईश्वर के क्या हैं, (उत्तर) "यतः"

और परमात्मा का अधिष्ठानादि परमात्मा ही है, अन्य कोई नहीं, सबका भी उत्पादन, रक्षण, धारणादि वही करता है तथा आनन्दमय है और वह ईश्वर कैसा है ? कि "विश्वचक्षाः" सब संसार का द्रष्टा है, उसको छोड के अन्य का आश्रय जो करता है, वह दुःखसागर में क्यों न डूबेगा ? ॥ ३२ ॥

मूल प्रार्थना

तनूपाऽ अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि । आयुर्दाऽ अग्नेऽस्यायुर्मे देहि । वर्चोदाऽ अग्नेऽसि वर्चो मे देहि ।

अग्ने यन्मे तन्वाऽ ऊनं तन्मऽआपृण ॥ ३३ ॥ यजु० ३ । १७ ॥

व्याख्यान—हे सर्वरक्षकेश्वराग्ने ! तू हमारे शरीर का रक्षक है । सो शरीर को कृपा से पालन कर, हे महावैद्य ! आप आयु (उमर) बढ़ानेवाले हो, मुझको सुखरूप उत्तमायु दीजिये । हे अनन्त विद्यातेजयुक्त ! आप "वर्चः" विद्यादि तेज अर्थात् यथार्थ विज्ञान देनेवाले हो, मुझको सर्वोत्कृष्ट विद्यादि तेज देओ, पूर्वोक्त शरीरादि की रक्षा से हमको सदा आनन्द में रक्खो और जो जो कुछ भी शरीरादि में "ऊनम्" न्यून हो, उस उस को कृपादृष्टि से सुख और ऐश्वर्य के साथ सब प्रकार से आप पूर्ण करो, किसी आनन्द वा श्रेष्ठ पदार्थ की न्यूनता हमको न रहै । आपके पुत्र हम लोग जब पूर्णानन्द में रहेंगे तभी आप पिता की शोभा है क्योंकि लड़के-लोग छोटी-बड़ी चीज अथवा सुख पिता-माता को छोड़ किससे माँगे ? सो आप सर्वशक्तिमान् हमारे पिता, सब ऐश्वर्य तथा सुख देनेवालों में पूर्ण हो ॥ ३३ ॥

मूल स्तुति

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥३४॥

यजु० १७ । १९ ॥

व्याख्यान—विश्व (सब जगत् में) जिसका चक्षु (दृष्टि) जिससे अदृष्ट कोई वस्तु नहीं तथा जिसके सर्वत्र मुख, बाहु, पग अन्य श्रोत्रादि भी हैं, जिसकी दृष्टि में अर्थात् सर्वदृक्, सर्ववक्ता, सर्वाधारक और सर्वगत ईश्वर व्यापक है, उसी से जब डरेगा तभी धर्मात्मा होगा, अन्यथा कभी नहीं। वही विश्वकर्मा परमात्मा एक ही अद्वितीय है, पृथिवी से लेके स्वर्गपर्य्यन्त जगत् का कर्त्ता है, जिस जिस ने जैसा जैसा पाप वा पुण्य किया है, उस उस को न्यायकारी दयालु जगत्पिता पक्षपात छोड़ के अनन्त बल और पराक्रम इन दोनों बाहुओं से सम्यक् "पतत्रैः" प्राप्त होनेवाले सुख-दुःख फल दोनों से प्राप्त सब जीवों को "धमति" (धमन-कम्पन) यथायोग्य जन्म-मरणादि को प्राप्त करा रहा है । उसी निराकार, अज, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयामय, ईश्वर से अन्य को कभी न मानना चाहिये । वही याचनीय, पूजनीय, हमारा प्रभु स्वामी और इष्टदेव है, उसी से सुख हमको होगा, अन्य से कभी नहीं ॥ ३४ ॥

मूल स्तुति

भूर्भुवः स्वः । सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳬं सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ।
नर्य प्रजां मे पाहि । शᳬंस्य पशून्मे पाहि अथर्य पितुं मे पाहि ॥३५॥

यजु० ३ । ३७ ॥

व्याख्यान—हे सर्वमङ्गलकारकेश्वर ! आप "भूः" सदा वर्त्तमान हो "भुवः" वायु आदि पदार्थों के रचनेवाले "स्वः" सुखरूप लोक के रचनेवाले हो "हमको तीन लोक का सुख दीजिये। हे सर्वाध्यक्ष ! आप कृपा करो, जिससे कि मैं पुत्र-पौत्रादि उत्तम गुणवाली प्रजा से श्रेष्ठ प्रजावाला होऊं। सर्वोत्कृष्ट वीर योद्धाओं से "सुवीरः" युद्ध में सदा विजयी होऊं। हे महापुष्टिप्रद ! आपके अनुग्रह से अत्यन्त विद्यादि तथा सोम ओषधि सुवर्णादि और नैरोग्यादि से सर्वपुष्टियुक्त होऊं। हे "नर्य" नरों के हितकारक ! मेरी प्रजा की रक्षा आप करो, हे "शंस्य" स्तुति करने के योग्य ईश्वर ! हस्त्यश्वादि पशुओं का आप पालन करो, हे "अथर्य" व्यापक ईश्वर ! "पितुम्" मेरे अन्न की रक्षा कर, हे दयानिधे ! हम लोगों को सब उत्तम पदार्थों से परिपूर्ण और सब दिन आप आनन्द मे रक्खो ॥ ३५ ॥

मूल स्तुति

किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् ॥३६॥

यजु० १७ । २० ॥

व्याख्यान—(प्रश्न) विद्या क्या है ? वन और वृक्ष किसको कहते हैं ? (उत्तर) जिस सामर्थ्य से विश्वकर्मा ईश्वर ने जैसे तक्षा (बढ़ई) अनेकविध रचना से अनेक पदार्थ रचता है, वैसे ही स्वर्ग (सुखविशेष) और भूमि मध्य (सुखवाला लोक) तथा नरक (दुःखविशेष) और सब लोकों को रचा है, उसी को वन और वृक्ष कहते हैं। हे "मनीषिणः" विद्वानो ! जो सब भुवनों का धारण करके सब जगत् में और सबके ऊपर विराजमान हो रहा है, उसके

विषय में प्रश्न तथा उसका निश्चय तुम लोग करो "मनसा" उसके विज्ञान से जीवों का कल्याण होता है, अन्यथा नहीं ।। ३६ ।।

मूल प्रार्थना

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ।।३७।।

यजु० ३६ । २४ ।।

व्याख्यान—वह ब्रह्म, "चक्षुः" सर्वदृक् चेतन है तथा 'देव' अर्थात् विद्वानों के लिये वा मन आदि इन्द्रियों के लिये हितकारक मोक्षादि सुख का दाता है "पुरस्तात्" सबका आदि प्रथम कारण वही है "शुक्रम्" सबका करनेवाला किंवा शुद्धस्वरूप है "उच्चरत्" प्रलय के ऊर्ध्व वही रहता है, उसी की कृपा से हम लोग शत (१००) वर्ष तक देखें, जीवें, सुनें, कहें, कभी पराधीन न हों अर्थात् ब्रह्मज्ञान, बुद्धि और पराक्रम सहित इन्द्रिय तथा शरीर सब स्वस्थ रहें, ऐसी कृपा आप करें कि कोई अङ्ग मेरा निर्बल (क्षीण) और रोगयुक्त न हो तथा शत (१००) वर्ष से अधिक भी आप कृपा करें कि शत (१००) वर्ष के उपरान्त भी हम देखें, जीवें, सुनें, कहें और स्वाधीन ही रहें ।। ३७ ।।

मूल प्रार्थना

या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा ।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ।।३८।।

यजु० १७ । २१ ।।

व्याख्यान—हे सर्वविधायक विश्वकर्मन्नीश्वर ! जो तुम्हारे स्वरचित उत्तम, मध्यम, निकृष्ट त्रिविध धाम (लोक) हैं, उन सब लोकों की शिक्षा हम आपके सखाओं को करो, यथार्थविद्या होने से सब लोकों में सदा सुखी ही रहैं तथा इन लोकों के "हविषि" दान और ग्रहण व्यवहार में हम लोग चतुर हों, हे "स्वधावः" स्वसामर्थ्यादि धारण करनेवाले ! हमारे शरीरादि पदार्थों को आप ही बढ़ानेवाले हैं, "यजस्व" हमारे लिये विद्वानों का सत्कार, सब सज्जनों के सुखादि की संगति, विद्यादि गुणों का दान आप स्वय करो, आप अपनी उदारता से ही हमको सब सुख दीजिये किञ्च हम लोग तो आपके प्रसन्न करने में कुछ भी समर्थ नहीं हैं, सर्वथा आपके अनुकूल वर्त्तमान नहीं कर सकते परन्तु आप तो अधमोद्धारक है, इससे हमको स्वकृपा-कटाक्ष से सुखी करें ॥ ३८ ॥

मूल स्तुति

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु । शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥ ३९ ॥ यजु० ३६ । २ ॥

व्याख्यान—हे सर्वसन्धायकेश्वर ! मेरे चक्षु (नेत्र), हृदय (प्राणात्मा), मन, बुद्धि, विज्ञान, विद्या और सब इन्द्रिय, इनके छिद्र, निर्बलता, राग, चाञ्चल्य यद्वा मन्दत्वादि विकार इनका निवारण (निर्दोषत्व) करके सत्यधर्मादि में स्थापन आप ही करो क्योंकि आप "बृहस्पति" (सबसे बड़े) हो, सो अपनी बड़ाई की ओर देख के इस बड़े काम को आप अवश्य करें, जिससे हम लोग आप और आपकी आज्ञा के सेवन में यथार्थ तत्पर हों, मेरे सब छिद्रों को आप ही ढांकें, आप सब भुवनों के पति हैं इसलिये आप से वारंवार प्रार्थना हम लोग करते हैं कि सब दिन हम लोगों पर कृपादृष्टि से कल्याण-

कारक हों, हे परमात्मन् ! आपके विना हमारा कल्याणकारक कोई नहीं है, हमको आपका ही सब प्रकार का भरोसा है, सो आप ही पूरा करेंगे ॥ ३९ ॥

मूल प्रार्थना

विश्वकर्मा विमनाऽ आद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक् । तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऽऋषीन् परऽ एकमाहुः ॥४०॥

यजु० १७ । २६ ॥

व्याख्यान—सर्वज्ञ सर्वरचक ईश्वर "विश्वकर्मा" (विविधजगदुत्पादक) है तथा "विमनाः" विविध (अनन्त) विज्ञानवाला है, तथा "आद्विहाया" सर्वव्यापक और आकाशवत् निर्विकार अक्षोभ्य सर्वाधिकरण है, वही सब जगत् का "धाता" धारणकर्त्ता है "विधाता" विविध विचित्र जगत् का उत्पादक है तथा "परम, उत" सर्वोत्कृष्ट है "सन्दृक्" यथावत् सबके पाप और पुण्यों को देखनेवाला है, जो मनुष्य उसी ईश्वर की भक्ति, उसी में विश्वास और उसी का सत्कार (पूजा) करते हैं, उसको छोड़ के अन्य किसी को लेशमात्र भी नहीं मानते, उन पुरुषों को ही सब इष्ट सुख मिलते हैं, औरों को नहीं, वह ईश्वर अपने भक्तों को सुख में ही रखता है और वे भक्त सम्यक् स्वेच्छापूर्वक "मदन्ति" परमानन्द में ही सदा रहते हैं, दुःख को नही प्राप्त होते । वह परमात्मा एक अद्वितीय है, जिस परमात्मा के सामर्थ्य में 'सप्त' अर्थात् पंच प्राण, अन्तःकरण और जीव ये सब प्रलयविषयक कारणभूत ही रहते हैं, वही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, और प्रलय में निर्विकार आनन्दस्वरूप ही रहता है, उसी की उपासना करने से हम लोग सदा सुखी रह सकते हैं ॥ ४० ॥

मूल स्तुति

चतुः स्रक्तिर्नाभिर्ऋतस्य सप्रथाः स नो विश्वायुः सप्रथाः स नः सर्वायुः सप्रथाः । अप द्वेषोऽअप ह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिम ॥४१॥

यजु० ३८ । २० ॥

व्याख्यान—हे महावैद्य ! सर्वरोगनाशकेश्वर ! चार कोणेवाली नाभि (मर्मस्थान) ऋत [= रस] की भरी नैरोग्य और विज्ञान का घर "सप्रथाः" विस्तीर्ण सुखयुक्त आपकी कृपा से हों तथा आपकी कृपा से "विश्वायु." पूर्ण आयु हो, आप जैसे सर्व-सामर्थ्य विस्तीर्ण हो, वैसे ही विस्तृत सुखयुक्त विस्तार सहित सर्वायु हमको दीजिये, हे शान्तस्वरूप ! हम "अपद्वेषः" द्वेषरहित आपकी कृपा से तथा "अपह्वरः" चलन (कम्पन) रहित हों, आपकी आज्ञा और आपसे भिन्न को लेशमात्र भी ईश्वर न मानें, यही हमारा व्रत है, इससे अन्य व्रत को कभी न मानें किन्तु आपको "सश्चिम" सदा सेवें, यही हमारा परमनिश्चय है, इस परमनिश्चय की रक्षा आप ही कृपा से करें ॥ ४१ ॥

मूल प्रार्थना

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यो देवानां नामधा एक एव तꣳसम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥४२॥

यजु० १७ । २७ ॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो ! जो अपना "पिता" (नित्य पालन करनेवाला) "जनिता" (जनक) उत्पादक "विधाता" सब मोक्ष सुखादि कामों का विधायक (सिद्धिकर्त्ता) "विश्वा" सब भुवन लोकलोकान्तर "धाम" अर्थात् स्थिति के स्थानों को यथावत्

जाननेवाला सब जातमात्र भूतों में विद्यमान है, जो "देवा०" दिव्य सूर्यादिलोक तथा और विद्वानों का नाम व्यवस्थादि करनेवाला एक अद्वितीय वही है, अन्य कोई नही, वही स्वामी और पितादि हम लोगो का है, इसमे शका नही रखनी तथा उसी परमात्मा के सम्यक् प्रश्नोत्तर करने में विद्वान्, वेदादि शास्त्र और प्राणीमात्र प्राप्त हो रहे हैं क्योंकि सब पुरुषार्थ यही है कि परमात्मा, उसकी आज्ञा और उसके रचे जगत् का यथार्थ से निश्चय (ज्ञान) करना, उसी से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार प्रकार के पुरुषार्थ के फलों की सिद्धि होती है अन्यथा नहीं । इस हेतु से तन, मन, धन और आत्मा इनसे प्रयत्नपूर्वक ईश्वर के साहाय्य से सब मनुष्यों को धर्मादि पदार्थों की यथावत् सिद्धि अवश्य करनी चाहिये ।। ४२ ।।

मूल स्तुति

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।४३।।

यजु० ३४ । १ ।।

व्याख्यान—हे धर्म्यनिरुपद्रव परमात्मन् ! मेरा मन सदा "शिवसंकल्प" धर्म कल्याण संकल्पकारी ही आपकी कृपा से हो, कभी अधर्मकारी न हो, वह मन कैसा है ? कि जागते हुए पुरुष का दूर दूर जाता-आता है, दूर जाने का जिसका स्वभाव ही है, अग्नि, सूर्यादि, श्रोत्रादि इन्द्रिय, इन ज्योतिप्रकाशकों का भी ज्योतिप्रकाशक है, अर्थात् मन के विना किसी पदार्थ का प्रकाश कभी नहीं होता । वह एक बड़ा चञ्चल वेगवाला मन आपकी कृपा से ही स्थिर, शुद्ध, धर्म्मात्मा, विद्यायुक्त हो सकता है "दैवम्" देव (आत्मा का) मुख्य साधक भूत, भविष्यत् और वर्त्तमानकाल का ज्ञाता है, वह

आपके वश में ही है, उसको आप हमारे वश में यथावत् करें, जिससे हम कुकर्म्म में कभी न फसें, सदैव विद्या, धर्म्म और आपकी सेवा में ही रहै ॥ ४३ ॥

मूल प्रार्थना

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥ ४४ ॥

यजु० १७ । ३१ ॥

व्याख्यान—हे जीवो ! जो परमात्मा इन सब भुवनों का बनानेवाला विश्वकर्मा है, उसको तुम लोग नहीं जानते हो, इसी हेतु से तुम "नीहारेण" अत्यन्त अविद्या से आवृत मिथ्यावाद नास्तिकत्व बकवाद करते हो, इससे दुःख ही तुमको मिलेगा, सुख नहीं । तुम लोग "असुतृपः" केवल स्वार्थसाधक प्राणपोषणमात्र में ही प्रवृत्त हो रहे हो "उक्थशासश्चरन्ति" केवल विषय-भोगों के लिये ही अवैदिककर्म करने में प्रवृत्त हो रहे हो और जिसने ये सब भुवन रचे है उस सर्वशक्तिमान् न्यायकारी परब्रह्म से उलटे चलते हो, अत एव उसको तुम नहीं जानते ।

प्रश्न—वह ब्रह्म और हम जीवात्मा लोग ये दोनो एक है वा नही ?

उत्तर—"यद्युष्माकमन्तरं बभूव" ब्रह्म और जीव की एकता वेद और युक्ति से सिद्ध कभी नहीं हो सकती क्योंकि जीव ब्रह्म का पूर्व से ही भेद है । जीव अविद्या आदि दोषयुक्त है, ब्रह्म अविद्यादि दोषयुक्त नहीं है, इससे यह निश्चित है कि जीव और ब्रह्म एक न थे, न होंगे और न हैं, किंच व्याप्यव्यापक, आधाराधेय, सेव्यसेवकादि सम्बन्ध

तो जीव के साथ ब्रह्म का है, इससे जीव ब्रह्म की एकता मानना किसी मनुष्य को योग्य नहीं ॥ ४४ ॥

मूल स्तुति

भग एव भगवाँ२॥ऽअस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह ॥४५॥

यजु० ३४ । ३८ ॥

व्याख्यान—हे सर्वाधिपते ! महाराजेश्वर ! आप "भग" परमैश्वर्यस्वरूप होने से भगवान् हो, हे (देवाः) विद्वानो ! "तेन" (भगवता प्रसन्नेश्वरसहायेन) उस भगवान् प्रसन्न ईश्वर के सहाय से हम लोग परमैश्वर्ययुक्त हों, हे "भग" परमेश्वर सर्व संसार "तन्त्वा" उन आपको ही ग्रहण करने को अत्यन्त इच्छा करता है क्योंकि कौन ऐसा भाग्यहीन मनुष्य है जो आपको प्राप्त होने की इच्छा न करै, सो आप हमको प्रथम से प्राप्त हों फिर कभी हमसे आप और ऐश्वर्य अलग न हो । आप अपनी कृपा से इसी जन्म में परमैश्वर्य्य का यथावत् भोग हम लोगों को करावे और आपकी सेवा में हम नित्य तत्पर रहैं ॥ ४५ ॥

मूल प्रार्थना

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे
निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे वसो मम ।
आहमजानि गर्भधमात्वमजासि गर्भधम् ॥ ४६ ॥

यजु० २३ । १९ ।

व्याख्यान—हे समूहाधिपते ! आप मेरे सब समूहों के पति होने से आपको 'गणपति' नाम से ग्रहण करता हूं तथा मेरे प्रिय कर्मचारी पदार्थ और जनों के पालक भी आप ही हैं, इससे आपको 'प्रियपति' मैं अवश्य जानूं, इसी प्रकार मेरी सब निधियों के पति होने से आपको मैं निश्चित 'निधिपति' जानूं, हे "वसो" सब जगत् को जिस सामर्थ्य से उत्पन्न किया है, उस अपने सामर्थ्य का धारण और पोषण करनेवाला आपको ही मैं जानूं। सबका कारण आपका सामर्थ्य है, यही सब जगत् का धारण और पोषण करता है, यह जीवादि जगत् तो जन्मता और मरता है परन्तु आप सदैव अजन्मा और अमृतस्वरूप हैं। आपकी कृपा से अधर्म, अविद्या, दुष्टभावादि को "अजानि" दूर फेकूं तथा हम सब लोग आपकी ही "हवामहे" अत्यन्त स्पर्धा (प्राप्ति की इच्छा) करते हैं, सो आप अब शीघ्र हमको प्राप्त होओ, जो प्राप्त होने मे आप थोड़ा भी विलम्ब करेंगे तो हमारा कुछ भी कभी ठिकाना न लगेगा ॥ ४६ ॥

मूल प्रार्थना

अग्ने॑ व्रतपते व्र॒तं च॑रिष्यामि॒ तच्छ॑केयं॒ तन्मे॑ राध्यताम् ।
इ॒दम॒हमनृ॑तात्स॒त्यमुपै॑मि ॥ ४७ ॥ यजु० १ । ५ ॥

व्याख्यान—हे सच्चिदानन्द स्वप्रकाशरूप ईश्वराग्ने ! ब्रह्मचर्य्य गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास आदि सत्यव्रतों का आचरण मै करूंगा, सो इस व्रत को आप कृपा से सम्यक् सिद्ध करे तथा मै अनृत अनित्य देहादि पदार्थों से पृथक् हो के इस यथार्थ सत्य जिसका कभी व्यभिचार विनाश नहीं होता उस विद्यादि लक्षण धर्म को प्राप्त होता हूं, इस मेरी इच्छा को आप पूरी करे, जिससे मै सभ्य, विद्वान्, सत्याचरणी आपकी भक्तियुक्त धर्मात्मा होऊं ॥ ४७ ॥

मूल स्तुति

य आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्व॑ऽउ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्य॑ दे॒वाः ।
यस्य॑ च्छा॒याऽमृ॒तं यस्य॑ मृ॒त्युः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥४८॥

यजु० २५ । १३ ॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो ! जो परमात्मा अपने लोगों को "आत्मदा." आत्मा का देनेवाला तथा आत्मज्ञानादि का दाता है, जीवप्राणदाता तथा "बलदा:" त्रिविध बल—एक मानस विज्ञानबल; द्वितीय इन्द्रियबल अर्थात् श्रोत्रादि की स्वस्थता, तेजोवृद्धि; तृतीय शरीरबल महापुष्टि, दृढाङ्गता और वीर्यादि वृद्धि इन तीनों बलों का जो दाता है, जिसके "प्रशिषम्" अनुशासन (शिक्षामर्यादा) को यथावत् विद्वान् लोग मानते हैं, सब प्राणी और अप्राणी जड़ चेतन विद्वान् वा मूर्ख उस परमात्मा के नियमों को कोई कभी उल्लङ्घन नहीं कर सकता, जैसे कि कान से सुनना, आँख से देखना, इसको उलटा कोई नहीं कर सकता है, जिसकी छाया—आश्रय ही अमृत विज्ञानी लोगों का मोक्ष कहाता है तथा जिसकी अछाया (अकृपा) दुष्ट जनों के लिये वारम्वार मरण और जन्मरूप महाक्लेशदायक है। हे सज्जन मित्रो ! वही एक परमसुखदायक पिता है, आओ अपने सब मिल के प्रेम, विश्वास और भक्ति करें, कभी उसको छोड़ के अन्य को उपास्य न मानें, वह अपने को अत्यन्त सुख देगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं ॥ ४८ ॥

मूल स्तुति

उप॑हूता इ॒ह गाव॒ उप॑हूता अ॒जाव॑यः ।

अथोऽअ॒स्य कीलाल॒ उप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः ।
क्षेमा॑य व॒ः शान्त्यै॒ प्रप॑द्ये शि॒वꣳ श॒ग्मꣳ श॒ंय्योः श॒ंय्योः ॥४९॥

यजु० ३ । ४३ ॥

व्याख्यान—हे पश्वादिपते ! महात्मन् ! आपकी ही कृपा से उत्तम उत्तम गाय, भैंस, घोड़े, हाथी, बकरी, भेड़ तथा उपलक्षण से अन्य सुखदायक सब पशु और अन्न, सर्वरोगनाशक औषधियों का उत्कृष्ट रस "नः" हमारे घरों में नित्य स्थिर (प्राप्त) रख, जिससे किसी पदार्थ के विना हमको दुःख न हो, हे विद्वानो ! "वः" (युष्माकम्) तुम्हारे सङ्ग और ईश्वर की कृपा से क्षेमकुशलता और शान्ति तथा सर्वोपद्रव-विनाश के लिये "शिवम्" मोक्ष-सुख "शग्मम्" और इस संसार के सुख को मैं यथावत् प्राप्त होऊं । मोक्ष-सुख और प्रजा-सुख इन दोनों की कामना करनेवाला जो मैं हूं, उन मेरी उक्त दोनों कामनाओं को आप यथावत् शीघ्र पूरी कीजिये, आपका यही स्वभाव है कि अपने भक्तों की कामना अवश्य पूरी करना ॥ ४९ ॥

मूल प्रार्थना

तमीशा॑नं॒ जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धियञ्जि॒न्वमव॑से हूमहे व॒यम् ।
पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द्वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑ ॥५०॥

यजु० २५ । १८ ॥

व्याख्यान—हे सुख और मोक्ष की इच्छा करनेवाले जनो ! उस परमात्मा को ही "हूमहे" हम लोग प्राप्त होने के लिये अत्यन्त स्पर्धा करते हैं कि उसको हम कब मिलेंगे क्योंकि वह ईशान (सब जगत् का स्वामी) है और ईषण (उत्पादन) करने की इच्छा करनेवाला

है। दो प्रकार का जगत् है—चर और अचर, इन दोनों प्रकार के जगत् का पालन करनेवाला वही है, "धियञ्जिन्वम्" विज्ञानमय, विज्ञानप्रद और तृप्तिकारक ईश्वर से अन्य कोई नहीं है, उसको "अवसे" अपनी रक्षा के लिये हम स्पर्धा (इच्छा) से आह्वान करते हैं, जैसे वह ईश्वर "पूषा" हमारे लिये पोषणप्रद है, वैसे ही "वेदसाम्" धन और विज्ञानों की वृद्धि का "रक्षिता" रक्षक है तथा "स्वस्तये" निरुपद्रवता के लिये हमारा "पायुः" पालक वही है और "अदब्धः" हिंसारहित है, इसलिये ईश्वर जो निराकार, सर्वानन्दप्रद है हे मनुष्यो ! उसको मत भूलो, विना उसके कोई सुख का ठिकाना नहीं है ॥ ५० ॥

मूल स्तुति

मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम् ।
अस्माकꣳ सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषः ॥ ५१ ॥

यजु० २ । १० ॥

व्याख्यान—हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् ईश्वर ! "मयि" मुझमें विज्ञानादि शुद्ध इन्द्रिय "रायः" और उत्तम धन को "मघवानः" परम धनवान् आप "सचन्ताम्" सद्यः प्राप्त करो। हे सर्व काम पूर्ण करनेवाले ईश्वर ! आपकी कृपा से हमारी आशा सत्य ही होनी चाहिये, (पुनरुक्त अत्यन्त प्रेम और त्वरा द्योतनार्थ है) हे भगवन् ! हम लोगों की इच्छा आप शीघ्र ही सत्य कीजिये, जिससे हमारी न्याययुक्त इच्छा के सिद्ध होने से हम लोग परमानन्द में सदा रहें ॥ ५१ ॥

मूल प्रार्थना

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिं मेधामयासिषꣳ स्वाहा ॥ ५२ ॥ यजु० ३२ । १३ ॥

व्याख्यान—हे सभापते विद्यामय न्यायकारिन् सभासद् सभाप्रिय ! सभा ही हमारा राजा न्यायकारी हो, ऐसी इच्छावाले आप हमको कीजिये, किसी एक मनुष्य को हम लोग राजा कभी न बनावें किन्तु [सभा से ही सुखदायक] आपको ही हम सभापति सभाध्यक्ष राजा मानें । आप अद्भुत आश्चर्य विचित्र शक्तिमय हैं तथा प्रियस्वरूप ही हैं, "इन्द्र" जो जीव उसको कमनीय (कामना के योग्य) आप ही हैं, "सनिम्" सम्यक् भजनीय और सेव्य भी जीवों के आप ही हैं "मेधा" अर्थात् विद्या सत्यधर्मादि धारणावाली बुद्धि को हे भगवन् ! मैं याचता हूँ, सो आप कृपा करके मुझको देओ "स्वा०" यही स्वकीय वाक् "आह" कहती है कि एक ईश्वर से भिन्न कोई जीवों को सेव्य नही है । यही वेद में ईश्वराज्ञा है, सो सब मनुष्यों को मानना योग्य है ॥ ५२ ॥

मूल स्तुति

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ ५३ ॥
यजु० ३२ । १४ ॥

व्याख्यान—हे सर्वज्ञाग्ने परमात्मन् ! जिस विज्ञानवती यथार्थ धारणावाली बुद्धि को देवसमूह (विद्वानों के वृन्द) "उपासते"

(धारण करते) हैं तथा यथार्थ पदार्थविज्ञानवाले "पितरः" जिस बुद्धि के उपाश्रित होते हैं, उस बुद्धि के साथ इसी समय कृपा से मुझको मेधावी कर । "स्वाहा" इसको आप अनुग्रह और प्रीति से स्वीकार कीजिये, जिससे मेरी जड़ता सब दूर हो जाय ।। ५३ ।।

मूल प्रार्थना

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः ।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥ ५४ ॥

यजु० ३२ । १५ ।।

व्याख्यान—हे सर्वोत्कृष्टेश्वर ! आप "वरुणः" वर (वरणीय) आनन्दस्वरूप हो, कृपा से मुझको मेधा सर्वविद्यासम्पन्न बुद्धि दीजिये तथा "अग्निः" विज्ञानमय विज्ञानप्रद "प्रजापतिः" सब संसार के अधिष्ठाता पालक "इन्द्रः" परमैश्वर्यवान् "वायुः" विज्ञानवान् अनन्तबल "धाता" तथा सब जगत् का धारण और पोषण करनेवाले आप मुझको अत्युत्तम मेधा (बुद्धि) दीजिये* ।। ५४ ।।

मूल स्तुति

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ॥ ५५ ॥

यजु० ३२ । १६ ।।

---

* अनेक बार मांगना ईश्वर से अत्यन्त प्रीतिद्योतनार्थ सद्यः दानार्थ है, बुद्धि से उत्तम पदार्थ कोई नहीं है, उसके होने से जीव को सब सुख होते हैं, इस हेतु से बारम्बार परमात्मा से बुद्धि की ही याचना करना श्रेष्ठ बात है ।

व्याख्यान—हे महाविद्य महाराज सर्वेश्वर ! मेरा ब्रह्म (विद्वान्) और क्षत्र (राजा, तथा राज्य, महाचतुर न्यायकारी शूरवीर राजादि क्षत्रिय) ये दोनों आपकी अनन्त कृपा से यथावत् [अनुकूल] हों "श्रियम्" सर्वोत्तम विद्यादि लक्षणयुक्त महाराज्य श्री को हम प्राप्त हों। हे "देवाः" विद्वानो ! दिव्य ईश्वर गुण परमकृपा आदि, उत्तम विद्यादि लक्षण समन्वित श्री को मुझमें अचलता से धारण कराओ, उसको मैं अत्यन्त प्रीति से स्वीकार करूं और उस श्री को विद्यादि सद्गुण वा सर्व-संसार के हित के लिये तथा राज्यादि प्रबन्ध के लिये व्यय करूं ॥ ५५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीयुत विरजानन्द-सरस्वतीस्वामिनां महाविदुषां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचित आर्याभिविनये द्वितीयः प्रकाशः सम्पूर्णः ॥

समाप्तश्चाऽयङ् ग्रन्थः ॥